अनुक्रमणिका.

विषय.	पृष्ठ
जीवतत्त्व.	२
अजीवतत्त्व.	८
पुण्यतत्त्व.	१२
पापतत्त्व.	१९
आस्रवतत्त्व.	३०
संवरतत्त्व.	३५
निर्जरातत्त्व....	४७
बन्धतत्त्व.	५१
मोक्षतत्त्व.	५३

शुद्धिपत्र.

पृष्ट.	पङ्क्ति.	अशुद्ध.	शुद्ध.
७	४	परिणाभ	परिणाम
६२	९	॥ ४ ॥	॥ ४२ ॥

नवतत्त्व.

हिन्दी-भाषानुवादसहित.

जीवाजीवा पुण्णं,
पावासवसंवरो य निज्जरणा ।
बंधो मुक्खो य तहा,
नव तत्ता हुंति नायव्वा ॥ १ ॥

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये नव तत्त्व ज्ञेय हैं अर्थात् इन्हें जानना चाहिये ॥ १ ॥

(१) जिसमें ज्ञान हो उसे, जीव कहते हैं. (२) जिसमें ज्ञान नहीं है, उसे अजीव कहते हैं. (३) जिस कर्मसे जीव सुख पाता है उस कर्मका नाम पुण्य है. (४) जिस कर्मसे जीव दुःख पाता है उस कर्मका नाम पाप है. (५) आत्मासे सम्बध (मेल) करनेके लिये जिसके द्वारा पुद्गल-द्रव्य आते हैं उसे आस्रव कहते हैं. (६) आत्मासे पुद्गल द्रव्यका सम्बन्ध होना जिसके द्वारा रुक जाय उसे संवर कहते हैं. (७) आत्मासे लगे हुए कुछ कर्म, जिसके द्वारा आत्मासे अलग हो जाँय उसे निर्जरा कहते हैं. (८) दूध और पानीकी तरह आत्मा और पुद्गल-द्रव्यका आपसमें

मिलना, वन्ध कहलाता है. (९) सम्पूर्ण कर्मोंका आत्मासे अलग होना, मोक्ष कहलाता है.

ज्ञान और चैतन्यका मतलब एक है तथा जड़ और अजीवका मतलब एक है. इन नव तत्त्वोंमेंसे पुण्य, संवर, निर्जरा और मोक्ष, ग्रहण करने योग्य हैं; पाप, आस्रव और बन्धका त्याग करना चाहिये. आत्मा जिन पुद्गल-द्रव्योंको ग्रहण कर अपने प्रदेशोंसे मिला लेता है वे पुद्गल-द्रव्य, कर्म कहलाते हैं. जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श हो, उसको पुद्गल कहते है.
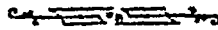
"अब जीव आदि तत्त्वके भेद कहते हैं."

चउदस चउदस बाया,
लीसा वासीअ हुंति बायाला ।
सत्तावन्नं बारस,
चउ नव भेआ कमेणेसिं ॥ २ ॥

जीवके चौदह, अजीवके चौदह, पुण्यके बयालीस, पापके बयासी, आस्रवके बयालीस, संवरके सत्तावन, निर्जराके बारह, बन्धके चार और मोक्षके नव भेद हैं ॥ २ ॥
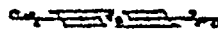
"इस गाथामें छः प्रकारसे जीवका विवेचन है."

एगविह दुविह तिविहा,
चउव्विहा पंच छव्विहा जीवा ।

चेयण तस इयरेहिं,

वेय गइ करण काएहिं ॥ ३ ॥

चेतन-रूपसे जीव एक तरहका है; त्रस और स्थावर-रूपसे दो तरहका; स्त्रीवेद, पुरुषवेद, और नपुंसकवेद-रूपसे तीन तरहका; एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रियं, और पञ्चेन्द्रियं-रूपसे पॉच तरहका; पृथ्वीकाय, जलकाय, तेजःकाय, वायुकाय वनस्पतिकाय और त्रसकाय रूपसे छः तरहका ॥ ३ ॥

सूर्य बादलोंसे चाहे जितना घिर जाय तौभी उसका प्रकाश कुछ न कुछ जरूर बना रहता है इसी तरह कर्मोंके गाढ़ आवरणसे ढके हुए जीवके ज्ञानका अनन्तवॉ भाग खुला रहता है; मतलब यह है कि पूर्ण-कर्म-बद्धदशामें भी जीवमें कुछ न कुछ ज्ञान जरूर बना रहता है; यदि ऐसा न हो, तो जीव और जड़में कोई फर्क ही न रहेगा.

सर्दी और गरमीसे बचनेके लिये जो जीव चल-फिर सकें वे त्रस कहलाते हैं, जैसे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि. जो जीव शीत-उष्णसे अपना बचाव करनेके लिये चल-फिर न सकें वे 'स्थावर' कहलाते हैं, जैसे एकेन्द्रिय-जीव, वृक्ष, लता, पृथ्वीकाय, जलकाय आदि.

जिस कर्मके उदयसे पुरुषके साथ सम्भोग करनेकी इच्छा होती है उस कर्मको 'स्त्रीवेद' कहते हैं. जिस कर्मके उदयसे स्त्रीके साथ सम्भोग करनेकी इच्छा होती है उस कर्मको

'पुरुषवेद' कहते हैं. जिस कर्मके उदयसे स्त्री और पुरुष, दोनोंके साथ सम्भोग करनेकी इच्छा होती है उस कर्मको 'नपुंसकवेद' कहते हैं.

देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नरक, ये चार गतियाँ हैं. अनादिकालसे इन गतियोंमें जीव घूम रहा है, और जबतक मुक्ति नहीं मिलती तबतक बराबर घूमता रहेगा.

एकेन्द्रिय जीव वे हैं, जिन्हें सिर्फ शरीर हो, जैसे; पृथ्वीकाय, जलकाय, तेजःकाय, वायुकाय और वनस्पतिकायके जीव.

द्वीन्द्रिय जीव वे हैं, जिन्हें सिर्फ शरीर और जीभ हो, जैसे, केचुआ, जोंक, शङ्ख आदिके जीव.

त्रिन्द्रिय जीव वे हैं, जिन्हें सिर्फ शरीर, जीभ और नाक हो, जैसेः—चींटी, खटमल, जूँ, इन्द्रगोप (बरसाती लाल रङ्गके कीड़े) आदि जीव.

चतुरिन्द्रिय जीव वे हैं, जिन्हें सिर्फ शरीर, जीभ, नाक और आँख हो. जैसेः—बिच्छू, भौंरा, मक्खी, मच्छर आदि.

पञ्चेन्द्रिय जीव वे हैं, जिन्हें शरीर, जीभ, नाक, आँख और कान हो, जैसे देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि.

कायका मतलब है शरीर, जिनका शरीर सिर्फ पृथ्वीका हो, वे पृथ्वीकायः जिनका शरीर सिर्फ जलका हो, वे जलकाय (अप्काय); जिनका शरीर सिर्फ तेजका हो, वे तेजःकाय (अग्निकाय); जिनका शरीर सिर्फ वायुका हो, वे वायुकाय;

शाक, भाजी, फल, फूल आदिका जिनका शरीर हो, वे वनस्पतिकाय कहलाते हैं.

पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय, इनको 'षड्जीवनिकाय' कहते हैं.

"अब जीवके चौदह भेद कहते हैं."

एगिंदिय सुहुमियरा,
सन्नियर पणिंदिआ य स बिति चउ।
अपजत्ता पज्जत्ता,
कमेण चउदस जिय ठाणा ॥ ४ ॥

(एकेन्द्रिय जीवके दो भेद हैं, सूक्ष्म और बादर. पञ्चेन्द्रियके दो भेद हैं, संज्ञी और असंज्ञी. (दोनोंके मिलाकर चार भेद हुए.) द्वीन्द्रियका एक भेद, त्रीन्द्रियका एक भेद और चतुरिन्द्रियका एक भेद. (ये तीन और पहलेके चार मिला कर सात हुए.) ये सातों पर्याप्त और अपर्याप्त-रूप से दो प्रकार के हैं, इस तरह जीवके चौदह भेद हुए ॥ ४ ॥)

सूक्ष्म जीव वे हैं, जिनको हम आँखसे नहीं देख सकते, न उन्हें अग्नि जला सकती है, मनुष्य, पशु, पक्षी, आदि प्राणियोंके उपयोगमें वे नहीं आते, कोई चीज उनकी गतिमें रुकावट नहीं पहुँचा सकती, सारे लोकमें वे भरे पड़े हैं.

बादर जीव वे हैं, जिन्हें हम देख सकते हैं, आग उन्हें जला सकती है, मनुष्य आदि प्राणियोंके उपयोगमें वे आते हैं, उनकी गतिमें रुकावट होती है, वे सारे लोकमें व्याप्त नहीं है किन्तु उनके रहनेकी जगह नियत है.

संज्ञी पञ्चेन्द्रिय वे हैं जिनको पाँच इन्द्रियाँ और मन हो, जैसे—देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि.

असंज्ञी पञ्चेन्द्रियको पाँचों इन्द्रियाँ होती है पर मन नहीं होता, जैसे-मछली, मेढ़क तथा खून, वीर्य, वात, पित्त, कफ आदिके जीव.

शक्तिविशेपको पर्याप्ति कहते हैं; जीव-सम्बद्ध-पुद्गल में एक ऐसी शक्ति है जो आहारको ग्रहण कर उसका रस बनाती है, उस शक्तिका नाम है, 'आहारपर्याप्ति',

रस-रूप परिणामका खून, माँस, मेद (चर्बी), अस्थि, (हड्डी) मज्जा (हड्डीके अन्दरका कोमल पदार्थ) और वीर्य बनाकर शरीर-रचना करनेवाली शक्तिको 'शरीरपर्याप्ति' कहते हैं.

सात धातुओंमें-रक्त, मांस आदिमें-परणत रससे इन्द्रियोंके बनानेवाली शक्तिको 'इन्द्रियपर्याप्ति' कहते हैं.

श्वासोच्छ्वास बनने योग्य पुद्गल-द्रव्यको ग्रहण कर उसे श्वासोच्छ्वास-रूपमें परिणत करनेवाली शक्तिको 'श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति' कहते हैं.

मन बनने योग्य पुद्गल-द्रव्यको ग्रहण कर मनो-रूपमें परिणत करनेवाली शक्तिको 'मनःपर्याप्ति' कहते हैं.

भाषा योग्य पुद्गल-द्रव्यको ग्रहण कर भाषा-रूपमें परिणत करनेवाली शक्तिको 'भाषापर्याप्ति' कहते हैं.

पदार्थके स्वरूपका बदलना परिणाम कहलाता है, जैसे-दूधका परिणाम दही.

इस तरह आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन, ये छः पर्याप्तियाँ हैं इनमेंसे पहली चार पर्याप्तियाँ एकेन्द्रिय जीवको होती हैं. मनःपर्याप्ति को छोड़ बाकी की पाँच पर्याप्तियाँ विकलेन्द्रिय तथा असंज्ञी-पञ्चेन्द्रिय जीवको होती हैं.

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय तथा चतुरिन्द्रिय जीवको 'विकलेन्द्रिय' कहते हैं. छह पर्याप्तियाँ संज्ञी-पञ्चेन्द्रिय जीवको होती है. पहली तीन पर्याप्तियाँ पूरी किये बिना कोई जीव नहीं मर सकता. जिन जीवोंकी जितनी पर्याप्तियाँ कही गई हैं उन पर्याप्तियों को यदि वे पूरी कर चुके हों, तो पर्याप्त कहलाते हैं; जिन जीवोंने अपनी पर्याप्ति पूरी नहीं की, वे अपर्याप्त कहलाते हैं.

जीवतत्त्व समाप्त.

"अब अजीवतत्त्वके चौदह भेद कहते हैं."

धम्माधम्मागासा,
तिय तिय भेया तहेव अद्धा य ।
खंधा देस पएसा,
परमाणु अजीव चउदसहा ॥ ५ ॥

स्कन्ध, देश और प्रदेश–रूपसे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकायके तीन तीन भेद हैं इसलिये तीनोंके नव भेद हुए; कालका एक भेद और पुद्गलके चार भेद हैं;–स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु, सब मिलकर अजीवके चौदह भेद हुए ॥ ५ ॥

स्कन्ध—चतुर्दश रज्ज्वात्मक लोकमें पूर्ण जो धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, और पुद्गलास्तिकाय, वे प्रत्येक 'स्कन्ध' कहलाते हैं. मिले हुए अनन्त–पुद्गल–परमाणुओंके छोटेसे समूहको भी 'स्कन्ध' कहते हैं.

देश—स्कन्धसे कुछ कम, अथवा बुद्धि–कल्पित स्कन्धभागको देश कहते हैं

प्रदेश—स्कन्धसे अथवा देशसे लगा हुआ अति सूक्ष्म भाग (जिसका फिर विभाग न हो सके), 'प्रदेश' कहलाता है.

परमाणु—स्कन्ध अथवा देशसे पृथक्, प्रदेशके समान अतिसूक्ष्म स्वतन्त्र भाग, 'परमाणु' कहलाता है.

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकायके परमाणु नहीं होते.

अस्तिकाय—अस्तिका अर्थ है प्रदेश और कायका अर्थ है समूह, प्रदेशोंके समूहको 'अस्तिकाय' कहते हैं.

काल द्रव्यका वर्तमान-समय-रूप एकही प्रदेश है, प्रदेशोंका समूह न होनेसे आकाशास्तिकायकी तरह 'कालास्तिकाय' नहीं कह सकते.

"इस गाथामें तथा इससे आगेकी गाथामें अजीव-तत्त्वका स्वरूप विशेष-रूपसे कहते हैं."

धम्माधम्मा पुग्गल,
नह कालो पंच हुंति अज्जीवा ।
चलणसहावो धम्मो,
थिरसंठाणो अहम्मोअ ॥ ६ ॥

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल, ये पाँच अजीव-द्रव्य हैं. धर्मास्तिकाय, चलन-स्वभाववाला है अर्थात् जैसे मछलीके चलने-फिरनेमें जल सहायक है उसी तरह जीव और पुद्गलके सञ्चारमें—हिलने डुलनेमें-धर्मास्तिकाय सहायक है. अधर्मास्तिकाय, स्थिर-स्वभाववाला है अर्थात् जैसे वृक्षादिकी छाया पक्षियोंको विश्रान्ति लेनेमें-ठहरनेमें कारण है उसी तरह जीव और पुद्गलको स्थिर रखनेमें अधर्मास्तिकाय कारण है ॥ ६ ॥

अवगाहो आगासं,

पुग्गल जीवाण पुग्गला चउहा ।

खंधा देस पएसा,

परमाणुं चेव नायव्वा ॥ ७ ॥

अवकाश देना आकाशास्तिकायका स्वभाव है. जैसे दूध, शक्करको अवकाश देता है उसी तरह आकाशास्तिकाय, जीव और पुद्गलोंको अवकाश देता है. पुद्गलके चार भेद ये हैं; "स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु" ॥ ७ ॥

आकाशके दो भेद हैं, लोकाकाश और अलोकाकाश.

जितने आकाश-देशमें जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और काल व्याप्त है, वह लोकाकाश कहलाता है, और उससे जुदा अलोकाकाश.

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द, ये सिर्फ पुद्गलास्तिकायमें रहते है, धर्मास्तिकाय आदिमें नहीं.
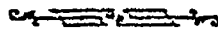
"अब दो गाथाओंसे काल-द्रव्यका स्वरूप कहते हैं"

एगा कोडी सतसट्ठि,

लक्खा सतहुत्तरी सहस्सा य ।

दोय सया सोलहिया,

आवलिया इग मुहुत्तम्मि ॥ ८ ॥

समयावली मुहुत्ता,
दीहा पक्खा य मास वरिसा य।
भणिओ पलिआ सागर,
उस्सप्पिणी सप्पिणी कालो ॥ ९ ॥

एक क्रोड, सड़सठ लाख, सतहत्तर हजार, दो सौ सोलह (१६७७७२१६) आवलिकाओंका एक 'मुहूर्त होता है ॥ ८ ॥

असङ्ख्य समयोंकी एक 'आवलिका' होती है.

जिसका विभाग न हो सके ऐसे अतिसूक्ष्म कालको 'समय' कहते हैं. तीस मुहूर्तोंका अहोरात्र—रूप एक 'दिन' होता है. पंदरह दिनोंका एक पक्ष. दो पक्षोंका एक 'मास'. बारह महीनोंका एक 'वर्ष'. असङ्ख्य वर्षोंका एक 'पल्योपम'. दस क्रोड़ाक्रोड़ी पल्योपमका एक 'सागरोपम'. दस क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपमकी एक 'उत्सर्पिणी'. दूसरे दस क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपमकी एक 'अवसर्पिणी' ॥ ९ ॥

उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी मिलकर एक 'काल—चक्र' होता है. ऐसे अनन्तकाल—चक्र बीतने पर एक 'पुद्गल परावर्त' होता है. क्रोड़ाक्रोड़ी—क्रोड़को क्रोड़से गुणने पर जो सङ्ख्या होती है उसे 'क्रोड़ाक्रोड़ी' कहते हैं.

पुण्यतत्त्व ।

सा उच्चगोअ मणुदुग,
सुरदुग पंचेंदिजाइ पणदेहा ।
आइतितणूणुवंगा,
आइम संघयण संठाणा ॥ १० ॥

"इस गाथामें तथा आगेकी दो गाथाओंमें पुण्यतत्त्वके बयालीस भेद कहे गये हैं."

सातावेदनीय, उच्चैर्गोत्र, मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, देवगति, देवानुपूर्वी, पञ्चेन्द्रिय जाति, औदारिकशरीर, वैक्रियशरीर, आहारकशरीर, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, प्रथमके तीन शरीरोंके अङ्ग, उपाङ्ग और अंगोपाङ्ग, आदि-संहनन और आदि संस्थान ॥ १० ॥

(१) जिस कर्मसे जीव सुखका अनुभव करे, उसे 'साता वेदनीय' कहते हैं ।

(२) जिस कर्मसे जीव उच्च कुलमें पैदा हो, उसे 'उच्चैर्गोत्र' कहते हैं ।

(३) जिस कर्मसे जीवको मनुष्यगति मिले, उसे 'मनुष्य गति' कहते हैं ।

(४) जिस कर्मसे मनुष्यकी आनुपूर्वी मिले, उसे 'मनुष्यानुपूर्वी' कहते हैं ।

आनुपूर्वीका मतलब यह है कि जब जीव शरीर छोड़कर समश्रेणिसे जाने लगता है तब आनुपूर्वी कर्म उस जीवको

जबरदस्तीसे, जहाँ पैदा होना हो, वहाँ पहुँचा देता है। मनुष्यगति कर्म और मनुष्यानुपूर्वी कर्म, दोनोंकी मनुष्य-द्विक संज्ञा है।

(५) जिसकर्मसे जीवको देवगति मिले, उसे 'देवगति' कहते हैं।

(६) जिसकर्मसे जीवको देवताकी आनुपूर्वी प्राप्त हो, उसे 'देवानुपूर्वी' कहते हैं।

(७) जिस कर्मसे जीवको पाँचों इन्द्रियाँ मिलें, उसे 'पञ्चेन्द्रियजातिकर्म' कहते हैं।

(८) जिस कर्मसे जीवको औदारिक शरीर मिले, उसे 'औदारिककर्म' कहते हैं।

उदार अर्थात् बड़े बड़े अथवा तीर्थकरादि उत्तमपुरुषोंकी अपेक्षा उदार-प्रधान पुद्गलोंसे जो शरीर बनता है उसे औदारिक कहते हैं, (मनुष्य, पशु, पक्षी आदिका शरीर औदारिक कहलाता है।)

(९) जिस कर्मसे वैक्रियशरीर मिले उसे 'वैक्रिय' कर्म कहते हैं।

(अनेक प्रकारकी क्रियाओंसे बना हुआ शरीर, वैक्रिय कहलाता है। उसके दो भेद हैं; औपपातिक और लब्धिजन्य। देवता और नरकनिवासी जीवोंका शरीर 'औपपातिक' कहलाता है।

लब्धि अर्थात् सामर्थ्य विशेष प्राप्त होने पर तिर्यञ्च और मनुष्य भी कभी कभी वैक्रियशरीर धारण करते हैं, वह लब्धिजन्य है।)

(१०) जिस कर्मसे आहारकशरीरकी प्राप्ति हो उसे 'आहारक' कर्म कहते है। दूसरे द्वीपमें विद्यमान तीर्थङ्करसे अपना सन्देह दूर करनेके लिये या उनका ऐश्वर्य देखनेके लिये चौदह पूर्वधारी मुनिराज चाहते हैं तब निजशक्तिसे एक हाथ प्रमाण, चर्मचक्षुके अदृश्य, अति सुन्दर शरीर बनाते हैं, उस शरीरको 'आहारक' शरीर कहते हैं।

(११) जिस कर्मसे तैजसशरीरकी प्राप्ति हो, उसे 'तैजस' कर्म कहते हैं।

किये हुये आहारको पका कर रस, रक्त आदि बनानेवाला तथा तपोबलसे तेजोलेश्या निकालनेवाला शरीर, तैजस कहलाता है।

(१२) जीवोंके साथ लगे हुये आठ प्रकारके कर्मोंका विकार रूप तथा सब शरीरोंका कारण रूप, 'कार्मण' शरीर कहलाता है।

तैजस शरीर और कार्मण शरीरका अनादिकालसे जीवके साथ सम्बन्ध है और मोक्ष पाये विना उनके साथ वियोग नहीं होता।

(१५) अङ्ग, उपाङ्ग और अङ्गोपाङ्ग, जिन कर्मोंसे मिलें, उनको 'अङ्ग' कर्म, 'उपाङ्ग कर्म' और 'अङ्गोपाङ्ग' कर्म कहते हैं।

जानु, भुजा, मस्तक, पीठ आदि अङ्ग हैं; अङ्गुली वगैरह उपाङ्ग और अङ्गुलीके पर्व, रेखा आदि अङ्गोपाङ्ग कहलाते हैं।

औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीरको अङ्ग उपाङ्ग आदि होते हैं लेकिन तैजस और कार्मण शरीरको नहीं।

(१६) प्रथम संहनन—'वज्रऋषभनाराच'—जिस कर्मसे मिले, उसे 'वज्रऋषभनाराच' नामकर्म कहते हैं।

(हड्डियोंकी रचनाको संहनन कहते हैं।)

दो हाड़ोंका मर्कट बन्ध होने पर एक पट्टा (बेठन) दोनों पर लपेट दिया जाय फिर तीनों पर खीला ठोका जाय इस तरहकी मजबूत हड्डियोंकी रचनाको 'वज्रऋषभनाराच' कहते हैं।

(१७) प्रथम संस्थान—'समचतुरस्र' जिस कर्मसे मिले, उसे 'समचतुरस्र' संस्थान नामकर्म कहते हैं।

पलथी मारकर बैठनेसे दोनों जानु और दोनों कन्धोंका इसीतरह बायें जानु और दहिने कन्धेका तथा दक्षिण जानु और वामस्कन्धका अन्तर समान हो, तो उस संस्थानको 'समचतुरस्र' संस्थान कहते हैं। जिनेश्वर भगवान् तथा देवताओंका यही संस्थान है।

वण्ण चउक्काऽगुरुलहु,
परघा ऊसास आयवुज्जोअं।
सुभ खगइ निमिण तस दस,
सुर नर तिरि आउ तित्थयरं ॥ ११ ॥

वर्णचतुष्क, (वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श) अगुरुलघु, पराघात, श्वासोच्छ्वास, आतप, उद्योत, शुभविहायोगति,

निर्माण. त्रसदशक, सुरायुष्य, मनुष्यायुष्य, तिर्यञ्चायुष्य और तीर्थङ्कर नामकर्म ॥ ११ ॥

(२१) जिन कर्मोंसे जीवका शरीर, शुभ वर्ण, शुभ गन्ध, शुभरस और शुभ स्पर्शवाला हो, उन कर्मोंको भी 'शुभवर्ण,' 'शुभगन्ध,' 'शुभरस' और 'शुभस्पर्श' नामकर्म कहते हैं।

लाल, पीला और सफेद रंग, शुभ वर्ण कहलाता है। सुगन्ध—खुशबू—को शुभ गन्ध कहते हैं। खट्टा, मीठा और कसैला रस, शुभ रस कहलाता है। लघु, मृदु, (कोमल) उष्ण और स्निग्ध (चिकना) स्पर्शको शुभ स्पर्श कहते हैं।

(२२) जिस कर्मसे जीवका शरीर न लोहे जैसा भारी हो, न ऑक की कपास जैसा हलका हो किन्तु मध्यम हो, उसे 'अगुरु लघु' नामकर्म कहते हैं।

(२३) जिस कर्मसे जीव, बलवानोंसे भी पराजित न हो, उसे 'पराघात' नामकर्म कहते हैं।

(२४) जिस कर्मसे जीव श्वासोच्छ्वास ले सके उसे, 'श्वासोच्छ्वास' नामकर्म कहते हैं।

(२५) जिस कर्मसे जीवका शरीर, उष्ण न होकर भी उष्ण प्रकाश करे उसे, 'आतप' नामकर्म कहते हैं। सूर्यमण्डलमें रहनेवाले पृथ्वीकायजीवोंका शरीर ऐसा ही है।

(२६) जिस कर्मसे जीवका शरीर शीतल प्रकाश करनेवाला हो, उसे 'उद्योत' नामकर्म कहते हैं। ऐसे जीव, चन्द्रमण्डल और ज्योतिश्चक्रमें होते हैं। वैक्रिय लब्धिसे साधु,

वैक्रिय शरीर धारण करते हैं, उस शरीरका प्रकाश शीतल होता है, वह इस उद्योत नामकर्मसे समझना चाहिये।

(२७) जिस कर्मसे जीव हाथी, हंस, बैल जैसी चाल चले, उसे 'शुभविहायोगति' नामकर्म कहते हैं।

(२८) जिस कर्मसे जीवके शरीरके अवयव, नियतस्थानमें व्यवस्थित हों उसे 'निर्माण' नामकर्म कहते हैं।

जैसे कारीगर, मूर्तिमें यथायोग्य स्थानोंमें अवयवोंको बनाता है वैसेही 'निर्माण' कर्म भी अवयवोंको व्यवस्थित करता है।

(३८) त्रस दशकका विचार आगेकी गाथामें कहा जायगा।

(४१) जिन कर्मोंसे जीव देव, मनुष्य और तिर्यञ्चकी योनिमें जीता है, उनको क्रमसे 'देवायु', 'मनुष्यायु' और 'तिर्यञ्चायु' नामकर्म कहते हैं।

(४२) जिस कर्मसे जीव, चौतीस अतिशयोंसे युक्त होकर त्रिभुवनका पूजनीय होता है, उसे 'तीर्थङ्कर' नामकर्म कहते हैं।
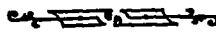
तस बायर पज्जत्तं,
पत्तेअ थिरं सुभं च सुभगं च।
सुस्सर आइज्ज जसं,
तसाइ दसगं इमं होइ ॥ १२ ॥

"इस गाथामें त्रस दशकका वर्णन है"

(१) जिस कर्मसे जीवको 'त्रस' शरीर मिले उसे 'त्रस' नामकर्म कहते हैं। त्रस जीव वे हैं, जो धूपसे व्याकुल होनेपर छायामें जॉय और शीतसे दुखी होनेपर धूपमें जा सकें। द्वीन्द्रियादि जीव, त्रस कहलाते हैं।

(२) जिस कर्मसे जीवका शरीर या शरीरसमुदाय देखनेमें आसके इतना स्थूल हो, उसे 'बादर' नामकर्म कहते हैं।

(३) जिसके उदयसे जीव अपनी पर्याप्तियोंसे युक्त हो, उसे 'पर्याप्ति' नामकर्म कहते है।

(४) जिस कर्मसे एक शरीरमें एकही जीव स्वामी रहे, उसे 'प्रत्येक' नामकर्म कहते हैं।

(५) जिस कर्मसे जीवके दॉत, हड्डी आदि अवयव मजबूत हों, उसे 'स्थिर' नामकर्म कहते हैं।

(६) जिस कर्मसे जीवकी नाभिके ऊपरका भाग शुभ हो, उसे 'शुभ' नामकर्म कहते हैं।

(७) जिस कर्मसे जीव, सबका प्रियपात्र हो, उसे 'सौभाग्य' नामकर्म कहते हैं।

(८) जिस कर्मसे जीवका स्वर (आवाज) कोयलकी तरह मधुर हो, उसे 'सुस्वर' नामकर्म कहते हैं।

(९) जिस कर्मसे जीवका वचन लोगोंमें आदरणीय हो, उसे 'आदेय' नामकर्म कहते हैं।

(१०) जिस कर्मसे लोगोंमें यश और कीर्ति फैले, उसे 'यशः कीर्ति' नामकर्म कहते हैं ॥ १२ ॥

पापतत्त्व ।

नाणंतराय दसगं,
नव बीए नीअ साय मिच्छत्तं ।
थावर दस नरयतिगं,
कसाय पणवीस तिरिय दुगं ॥ १३ ॥

"इस गाथामें तथा आगेकी दो गाथाओंमें पापतत्त्वके
बयासी भेद कहे जाते हैं."

ज्ञानावरणीय और अन्तराय मिला कर दस कर्म;—१ मति-ज्ञानावरणीय, २ श्रुतज्ञानावरणीय, ३ अवधिज्ञानावरणीय, ४ मनःपर्यवज्ञानावरणीय, ५ केवलज्ञानावरणीय, ६ दानान्तराय, ७ लाभान्तराय, ८ भोगान्तराय, ९ उपभोगान्तराय, १० वीर्यान्तराय, दर्शनावरणीय कर्मके नव भेद; ११ चक्षुदर्शनावरणीय, १२ अचक्षुर्दर्शनावरणीय, १३ अवधिदर्शनावरणीय, १४ केवलदर्शनावरणीय, १५ निद्रा, १६ निद्रानिद्रा, १७ प्रचला, १८ प्रचलाप्रचला, १९ स्त्यानर्द्धि, २० नीचैर्गोत्र, २१ असातावेदनीय, २२ मिथ्यात्वमोहनीय, स्थावर दशक;— २३ स्थावर, २४ सूक्ष्म, २५ अपर्याप्त, २६ साधारण, २७ अस्थिर, २८ अशुभ, २९ दुर्भग, ३० दुःस्वर, ३१ अनादेय और ३२ अयशःकीर्ति—नरकत्रिक;— ३३ नरकायु, ३४ नरकगति और ३५ नरकानुपूर्वी—पचीस कषाय;—३६ अनन्तानुबन्धी क्रोध, ३७ अ० मान, ३८ अ० माया, ३९ अ० लोभ; ४० अप्रत्याख्यान क्रोध, ४१ अप्र० मान, ४२ अप्र०

माया, ४३ अप्र० लोभ, ४४ प्रत्याख्यान क्रोध, ४५ प्र० मान, ४६ प्र० माया, ४७ प्र० लोभ; ४८ संज्वलनक्रोध, ४९ सं० मान, ५० सं० माया, ५१ सं० लोभ; ५२ हास्य, ५३ रति, ५४ अरति, ५५ शोक, ५६ भय, ५७ जुगुप्सा, ५८ स्त्रीवेद, ५९ पुरुषवेद, ६० नपुंसकवेद, तिर्यञ्चद्विक;— ६१ तिर्यञ्चगति और ६२ तिर्यञ्चानुपूर्वी—॥ १३ ॥

(१) मन और पाँच इन्द्रियोंके सम्बन्धसे जीवको जो ज्ञान होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं, उस ज्ञानका आवरण अर्थात् आच्छादन, 'मतिज्ञानावरणीय' पापकर्म कहलाता है।

(२) शास्त्रको 'द्रव्यश्रुत' कहते हैं और उसके सुनने या पढ़नेसे जो ज्ञान होता है उसे 'भावश्रुत' कहते हैं, उसका आवरण, 'श्रुतज्ञानावरणीय' पापकर्म कहलाता है।

(३) अतीन्द्रिय अर्थात् इन्द्रियोंके विना आत्माको रूपी द्रव्यका जो ज्ञान होता है, उसे अवधिज्ञान कहते हैं, उसका आवरण, 'अवधिज्ञानावरणीय' पापकर्म कहलाता है।

(४) संज्ञी पञ्चेन्द्रियके मनकी बात जिस ज्ञानसे मालूम होती है, उसे मनःपर्यवज्ञान कहते हैं, उसका आवरण, 'मनःपर्यवज्ञानावरणीय' पापकर्म कहलाता है।

(५) सारे संसारका पूरा ज्ञान जिससे होता है उसे केवलज्ञान कहते हैं, उसका आवरण, 'केवलज्ञानावरणीय' पापकर्म कहलाता है।

(६) दानसे जो लाभ होता है, उसे जानता हो, पासमें धन हो, सुपात्र भी मिल जावे लेकिन दान न कर सके, इसका कारण, 'दानान्तराय' पापकर्म है.

(७) दान देनेवाला उदार है, उसके पास दानकी चीजें भी मौजूद हैं, लेनेवाला भी हुशियार है तौभी मांगी हुई चीज न मिले, इसका कारण, 'लाभान्तराय' पापकर्म है।

(८) भोग्य चीजें मौजूद हैं, भोगनेकी शक्ति भी है लेकिन नहीं भोग सके, उसका कारण, 'भोगान्तराय' पाप-कर्म है।

(९) उपभोग्य चीजें मौजूद हैं, उपभोग करनेकी शक्ति भी है लेकिन उपभोग नहीं ले सके, उसका कारण 'उपभोगान्तराय' पापकर्म है।

जो चीज एकवार भोगनेमें आवे वह भोग्य; जैसे—पुष्प, फल, भोजन, आदि। जो पदार्थ वारवार भोगनेमें आवे उसे उपभोग्य कहते हैं, जैसे–स्त्री, वस्त्र, आभरण आदि।

(१०) रोग–रहित युवावस्था रहते और सामर्थ्य रहते हुये भी अपनी शक्तिका विकास न कर सके, उसका कारण, 'वीर्यान्तराय' पापकर्म है।

(११) आँखसे पदार्थोंका जो सामान्य प्रतिभास होता है उसे 'चक्षुर्दर्शन' कहते हैं, उसका आवरण, 'चक्षुर्दर्शनावरणीय' पापकर्म कहलाता है।

(१२) कान, नाक, जीभ, त्वचा तथा मनके सम्बन्धसे शब्द, गन्ध, रस और स्पर्शका जो सामान्य प्रतिभास होता है उसे 'अचक्षुर्दर्शन' कहते हैं, उसका आवरण, 'अचक्षुर्दर्शनावरणीय' पापकर्म कहलाता है।

(१३) इन्द्रियोंके विना रूपी–द्रव्यका जो सामान्य वोध

होता है उसे 'अवधिदर्शन' कहते हैं, उसका आवरण, 'अवधिदर्शनावरणीय' पापकर्म कहलाता है।

(१४) संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंका जो सामान्य अवबोध होता है, उसे 'केवलदर्शन' कहते हैं, उसका आवरण 'केवलदर्शनावरणीय' पापकर्म कहलाता है।

(१५) जो सोया हुआ आदमी जरासी खटखटाहटसे या आवाज़से जाग जाता है, उसकी नींदको निद्रा कहते हैं, जिस कर्मसे ऐसी नींद आवे उस कर्मका भी नाम 'निद्रा' है।

(१६) जो आदमी, बड़े जोरसे चिल्लाने या हाथसे जोरसे हिलाने पर बड़ी मुश्किलसे जागता है, उसकी नींदको निद्रानिद्रा कहते हैं, जिस कर्मसे ऐसी नींद आवे, उस कर्मका भी नाम 'निद्रानिद्रा' है।

(१७) खड़े खड़े या बैठे बैठे जिसको नींद आती है, उसकी नींदको प्रचला कहते है, जिस कर्मसे ऐसी नींद आवे, उसका नाम 'प्रचला' है।

(१८) चलते फिरते जिसको नींद आती है, उसकी नींदको प्रचलाप्रचला कहते हैं, जिस कर्मसे ऐसी नींद आवे, उसका भी नाम 'प्रचलाप्रचला' है।

(१९) दिनमें सोचे हुये कामको रातमें नींदकी हालतमें जो कर डालता है, उसकी नींदको 'स्त्यानर्द्धि' कहते हैं, जिस कर्मसे ऐसी नींद आवे, उस कर्मको भी 'स्त्यानर्द्धि' कहते हैं।

स्त्यानर्द्धिकी हालतमें उस वज्रऋषभनाराचसंहननवाले जीवको वासुदेवका आधा बल होता है।

(२०) जिस कर्मसे नीच कुलमें जन्म हो, उसे 'नीचैर्गोत्र' पापकर्म कहते हैं।

(२१) जिस कर्मसे जीव, दुःखका अनुभव करे, उसे 'असातावेदनीय' पापकर्म कहते हैं।

(२२) जिस कर्मसे मिथ्यात्वकी प्राप्ति हो उसे 'मिथ्यात्व-मोहनीय' पापकर्म कहते हैं।

मिथ्यात्वका लक्षण यह है; 'अदेवे देवबुद्धिर्या, गुरुधीर-गुरौ च या। अधर्मे धर्मबुद्धिश्च मिथ्यात्वं तन्निगद्यते' ॥ देव-ताके गुण जिसमें न हों, उसे देव समझना, गुरुके गुण जि-समें न हों उसे गुरु मानना और अधर्मको धर्म समझना, यह मिथ्यात्व है।

(३२) स्थावरदशकका वर्णन आगेकी गाथामें आवेगा।

(३३) जिस कर्मसे जीव नरक जाता है, उसे 'नरक-गति' पापकर्म कहते हैं।

(३४) जिस कर्मसे नरकमें जीता है, उसे 'नरकायु' पापकर्म कहते हैं।

(३५) जिस कर्मसे जीवको जबरदस्ती नरकमें जाना पड़े, उसे 'नरकानुपूर्वी' पापकर्म कहते हैं।

(३९) जिस कर्मसे जीवको अनन्तकाल तक संसारमें घूमना पड़ता है, उसे 'अनन्तानुबन्धी' पापकर्म कहते हैं। इसके चार भेद हैं; अनन्तानुबन्धी क्रोध, अनन्तानुबन्धी

मान, अन० माया और अन० लोभ। जबतक जीव जीता है तबतक प्रायः ये बने रहते हैं और अन्तमें प्रायः नरक-गति प्राप्त होती है।

(४३) जिस कर्मसे जीवको देशविरतिरूप–प्रत्याख्यानकी प्राप्ति न हो, उसे 'अप्रत्याख्यान' पापकर्म कहते हैं। इसके भी चार भेद हैं; अप्रत्याख्यान क्रोध, अप्रत्याख्यान मान, अ० माया और अ० लोभ। इनकी स्थिति एक वर्षकी है, इनके उदयसे अणुव्रत धारण करनेकी इच्छा नहीं होती और मरने पर प्रायः 'तिर्यञ्चगति' मिलती है।

(४७) जिसके उदयसे 'सर्वविरतिरूप' प्रत्याख्यानकी प्राप्ति न हो, उसे 'प्रत्याख्यान' पापकर्म कहते हैं।

इसके चार भेद हैं:—प्रत्याख्यान क्रोध, प्रत्याख्यान मान, प्र० माया और प्र० लोभ। इनकी स्थिति चार महिनेकी है; ये पापकर्म, 'सर्वविरति' रूप चारित्रके प्रतिबन्धक हैं और मृत्यु होने पर प्रायः मनुष्यगति मिलती है।

(५१) जिस कर्मसे 'यथाख्यात' चारित्रकी प्राप्ति न हो, उसे 'सञ्ज्वलन' पापकर्म कहते हैं।

इसके भी चार भेद हैं; 'सञ्ज्वलन' क्रोध, सं० मान, सं० माया और सं० लोभ। इनकी स्थिति पंदरह दिनोंकी है और मृत्यु होने पर देवगति प्राप्त होती है।

(५२) जिस कर्मसे, विनाकारण या कारणवश हँसी आवे, उसे 'हास्यमोहनीय' पापकर्म कहते हैं।

(५३) जिस कर्मसे अच्छे अच्छे पदार्थोंमें अनुराग हो, उसे 'रतिमोहनीय' पापकर्म कहते हैं।

(५४) जिस कर्मसे, बुरी चीजोंसे नफरत हो, उसे 'अ-रतिमोहनीय' पापकर्म कहते हैं।

(५५) जिस कर्मसे इष्ट वस्तुका वियोग होने पर शोक हो, उसे 'शोकमोहनीय' पापकर्म कहते हैं।

(५६) जिस कर्मसे, विनाकारण या कारणवश, दिलमें भय हो, उसे 'भयमोहनीय' पापकर्म कहते हैं।

(५७) जिस कर्मसे दुर्गन्धी या वीभत्स पदार्थोंको देख कर घृणा हो, उसे 'जुगुप्सामोहनीय' पापकर्म कहते हैं।

(६०) 'स्त्रीवेद', 'पुरुपवेद' और नपुंसकवेदका मतलव पहले लिखा जा चुका है।

(६१) जिस कर्मसे तिर्यञ्चगति मिले, उसे 'तिर्यञ्चगति' पापकर्म कहते हैं।

(६२) जिस कर्मसे जीवको जवरदस्ती तिर्यञ्चगतिमें जाना पड़े, उसे 'तिर्यञ्चानुपूर्वी' पापकर्म कहते हैं।

इग बि ति चउ जाईओ,
कुखगइ उवघाय हुंति पावस्स ।
अपसत्थं वण्णचउ,
अपढम संघयण संठाणा ॥ १४ ॥

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति-कर्म, अशुभविहायोगति नामकर्म, उपघातकर्म, अप्रशस्त वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श, अप्रथम संहनन अर्थात् ऋषभ-नाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका और सेवार्त संहनन,

अप्रथम संस्थान अर्थात् न्यग्रोध, सादि, कुब्ज, वामन और हुंड संस्थान। ये बयासी भेद पापतत्त्वके है ॥ १४ ॥

(६३) जिस कर्मसे जीवको एकेन्द्रिय जाति मिले, उसे 'एकेन्द्रियजाति' पापकर्म कहते हैं इसी प्रकार

(६४) द्वीन्द्रिय, (६५) त्रीन्द्रिय, और (६६) चतुरिन्द्रियजाति पापकर्मोंको समझना चाहिये।

(६७) जिस कर्मसे जीव, ऊँट या गधे जैसा चले, उसे 'अशुभविहायोगति' पापकर्म कहते हैं।

(६८) जिस कर्मसे जीव अपने ही अवयवोंसे दुखी हो, उसे 'उपघात' पापकर्म कहते हैं। वे अवयव प्रतिजिह्वा, (पडजीभ) कण्ठमाला, छठी ऊँगली आदि है।

(७२) जिन कर्मोंसे जीवका शरीर अशुभ वर्ण, अशुभ गन्ध, अशुभ स्पर्श और अशुभ रसवाला हो, उनको क्रमसे 'अप्रशस्तवर्ण' 'अप्रशस्तगन्ध' 'अप्रशस्तस्पर्श' और 'अप्रशस्तरस' पापकर्म कहते है।

नील और कृष्णवर्ण, अशुभ वर्ण है। दुर्गन्ध, अशुभ गन्ध। गुरु, खर, रूक्ष और शीत स्पर्श, अशुभ स्पर्श। तिक्त और कटुरस, अशुभ रस हैं।

(७७) जिन कर्मोंसे अन्तिम पाँच संहननोंकी प्राप्ति हो, उन्हें 'अप्रथमसंहनन' नाम पापकर्म कहते हैं।

पॉच संहनन ये हैं; १ ऋषभनाराच, २ नाराच, ३ अर्धनाराच, ४ कीलिका और ५ सेवार्त्त।

१–हड्डियोंकी सन्धिमें दोनों ओरसे मर्कटवन्ध और उनपर लपेटा हुआ पट्टा हो लेकिन खीला न हो, वह ऋषभ-नाराच संहनन है।

२–दोनों ओर सिर्फ मर्कटवन्ध हो, वह 'नाराच'।

३–एक ओर मर्कटवन्ध और दूसरी तरफ खीला हो, तो 'अर्धनाराच'।

४–मर्कटवन्ध न हो कर सिर्फ खीलेसे ही हड्डियाँ जुड़ी हों, तो 'कीलिका'।

५–खीला न हो कर इसी तरह हड्डियाँ आपसमें जुड़ी हों, तो, 'सेवार्त'।

(८२) जिन कर्मोंसे अन्तिम पाँच संस्थानोंकी प्राप्ति हो, उन्हें 'अप्रथमसंस्थान' नाम पापकर्म कहते हैं। पाँच संस्थान ये हैं; १ न्यग्रोधपरिमण्डल, २ सादि, ३ कुब्ज, ४ वामन और ५ हुंड।

१–वड़के वृक्षको न्यग्रोध कहते हैं, वह जैसा ऊपर पूर्ण और नीचे हीन होता है, वैसे ही, जिस जीवके नाभिका ऊपरी भाग पूर्ण और नीचेका हीन हो, तो 'न्यग्रोधपरि-मण्डल' संस्थान समझना चाहिये।

२–नाभिके नीचेका भाग पूर्ण और ऊपरका हीन हो, तो, 'सादि'।

३–हाथ, पैर, सिर आदि अवयव ठीक हों और पेट तथा छाती हीन हो, तो, 'कुब्ज'।

४—छाती और पेटका परिमाण ठीक हो और हाथ पैर सिर आदि छोटे हों, तो, 'वामन'।

५—शरीरके सब अवयव हीन हों, तो, 'हुंड'।

थावरसुहुमअपज्जं,
साहारणमथिरमसुभदुभगाणि।
दुस्सरणाइज्जजसं,
थावरदसगं विवज्जत्थं ॥ १५ ॥

"इस गाथामें पहले कहे हुये स्थावरदशकका वर्णन है."

स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय और अयशःकीर्ति, ये, पुण्य तत्त्वमें कहे हुये त्रसदशकसे विपरीत अर्थवाले हैं ॥ १५ ॥

(१) जिस कर्मसे स्थावर शरीरकी प्राप्ति हो, उसे 'स्थावर' नामकर्म कहते हैं। स्थावरशरीरवाले एकेन्द्रिय जीव, गरमी या सर्दीसे, चल फिर न सकनेके कारण अपना बचाव नहीं कर सकते।

(२) जिस कर्मसे, आँखसे नहीं देखने योग्य शरीर मिले उसे 'सूक्ष्म' नामकर्म कहते हैं।

निगोदके जीव, सूक्ष्म शरीरवाले होते हैं।

(३) जिस कर्मसे अपनी पर्याप्तियाँ पूरी किये विनाही जीव मर जावे, उसे 'अपर्याप्त' नामकर्म कहते हैं।

(४) जिस कर्मसे अनन्त जीवोंको एक शरीर मिले, उसे 'साधारण' नामकर्म कहते हैं। जैसे आलू, जमीकन्द आदिके जीव।

(५) जिस कर्मसे कान, भौंहें, जीभ आदि अवयव अ-स्थिर (चपल) होते हैं, उसे 'अस्थिर' नामकर्म कहते हैं।

(६) जिस कर्मसे नाभिके नीचेका भाग अशुभ हो, उसे 'अशुभ' नामकर्म कहते हैं।

(७) जिस कर्मसे जीव किसीका प्रीतिपात्र न हो उसे 'दुर्भग' नामकर्म कहते हैं।

(८) जिस कमसे जीवका स्वर सुननेमें बुरा लगे, उसे 'दुःस्वर' नामकर्म कहते हैं।

(९) जिस कर्मसे जीवका वचन, लोगोंमें माननीय न हो, उसे 'अनादेय' नामकर्म कहते हैं।

(१०) जिस कर्मसे लोकमें अपयश और अपकीर्ति हो, उसे 'अयशःकीर्ति' नामकर्म कहते हैं।

आस्रवतत्त्व ।

इंदिय कसाय अव्वय,
जोगा पंच चउ पंच तिन्नि कमा ।
किरिआओ पणवीसं,
इमा उताओ अणुक्कमसो ॥ १६ ॥

"इस गाथामें आस्रवके बयालीस भेद कहे हैं."

पाँच इन्द्रियाँ, चार कषाय, पाँच अव्रत, तीन योग और पच्चीस क्रियायें, ये, आस्रवके बयालीस भेद हैं ॥ १६ ॥

आस्रवके दो भेद हैं; भावास्रव और द्रव्यास्रव ।

जीवका शुभ, अशुभ परिणाम, 'भावास्रव' कहलाता है।

शुभ-अशुभ परिणामोंको पैदा करनेवाली बयालीस प्रकारकी वृत्तियोंको द्रव्यास्रव कहते हैं ।

इन्द्रियाँ दो तरहकी हैं; द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। द्रव्येन्द्रिय, पुद्गलरूप है और भावेन्द्रिय है जीवकी शब्दादि-ग्रहण-शक्ति ।

कषाय चार हैं;-क्रोध, मान, माया और लोभ ।

पाँच अव्रत;-प्राणातिपात (हिंसा), मृषावाद (झूठ बोलना), अदत्तादान (चोरी), मैथुन और परिग्रह ।

तीन योग;-मनोयोग, वचनयोग और काययोग ।

काइअ अहिगरणीया,
पाउसिया पारितावणी किरिया ।
पाणाइवाइरंभिअ,
परिग्गहिया मायवत्तीया ॥ १७ ॥

"इस गाथामें तथा आगेकी दो गाथाओंमें पच्चीस क्रियाओंके नाम हैं."

कायिकी, अधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, पारितापनिकी, प्राणातिपातिकी, आरम्भिकी, पारिग्राहिकी, मायाप्रत्ययिकी ॥ १७ ॥

(१) असावधानीसे शरीरके व्यापारसे जो क्रिया लगती है उसे 'कायिकी' कहते हैं ।

(२) जिस क्रियासे जीव, नरकमें जानेका अधिकारी होता है उसे 'अधिकरणिकी' कहते हैं । जैसे खड्ग आदिसे जीवकी हत्या करना ।

(३) जीव तथा अजीवका द्वेष करनेसे 'प्राद्वेषिकी' ।

(४) अपने आपको और दूसरोंको तकलीफ पहुँचानेसे 'पारितापनिकी' क्रिया लगती है ।

(५) दूसरोंके प्राणोंका नाश करनेसे 'प्राणातिपातिकी' ।

(६) खेती आदि करनेसे 'आरम्भिकी' ।

(७) धान्य वगैरहके संग्रह तथा उस पर ममता करनेसे 'पारिग्राहिकी' ।

(८) दूसरोंको ठगनेसे 'मायाप्रत्ययिकी' ।

———•••———

मिच्छा दंसणवत्ती,
अप्पच्चक्खाणाय दिट्ठी पुट्ठी अ ।
पाडुच्चिअ सामंतो,
वणीअ नेसत्थि साहत्थि ॥ १८ ॥

मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी, अप्रत्याख्यानिकी, दृष्टिकी, स्पृष्टिकी, प्रातित्यकी, सामंतोपनिपातिकी, नैशस्त्रिकी, स्वहस्तिकी ॥ १८ ॥

(९) जिनेन्द्र-वचनसे विपरीत, मिथ्यादर्शनसे 'मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी' क्रिया लगती है।

(१०) संयमके विघातक कषायोंके उदयसे प्रत्याख्यान न करना, उससे 'अप्रत्याख्यानिकी'।

(११) रागादिकलुषित चित्तसे पदार्थोंको देखनेसे 'दृष्टिकी'।

(१२) रागादिकलुषित चित्तसे स्त्री आदिके अंगका स्पर्श करनेसे 'स्पृष्टिकी' क्रिया लगती है।

(१३) जीवादि पदार्थोंको लेकर कर्मबन्धनसे जो क्रिया लगती है उसे 'प्रातित्यकी' कहते हैं।

(१४) अपना वैभव देखनेके लिये आये हुये लोगोंकी वैभव-विषयक प्रशंसा सुनकर खुश होनेसे तथा घी, तेल आदिके खुले वर्तनोंमें त्रस जीवोंके गिरनेसे जो क्रिया लगती है उसे 'सामन्तोपनिपातिकी' कहते हैं।

(१५) राजा आदिके हुक्मसे यन्त्र, हथियार आदिके

चनाने तथा खींचने आदिसे जो क्रिया लगती है उसे 'नैश-स्त्रिकी' कहते हैं।

हिरन, खरगोश आदि जीवोंको शिकारी कुत्तोंसे मरवाने या खुद मारनेसे जो क्रिया लगती है उसे स्वहस्तिकी कहते हैं।
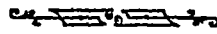
आणवणि विआरणिआ,
अणभोगा अणवकंख पच्चइआ।
अन्नापओग समुदा,
पपिज्जदोसेरिआ वहिआ॥ १९॥

आनयनिकी, वैदारणिकी, अनाभोगिकी, अनवकाङ्क्षा प्रत्ययिकी, प्रायोगिकी, सामुदायिकी, प्रेमिकी, द्वेषिकी और ऐर्यापथिकी। इन पचीस क्रियाओंसे कर्मका आस्रव होता है॥ १९॥

(१७) जीव तथा जड़ पदार्थोंको किसीके हुक्मसे या खुद लाने लेजानेसे जो क्रिया लगती है उसे 'आनयनिकी' कहते हैं।

(१८) जीव और जड़ पदार्थोंको चीरने फाड़नेसे जो क्रिया लगती है, उसे 'वैदारणिकी' कहते हैं

(१९) बेपर्वाहीसे चीजोंके उठाने रखने तथा चलने फिरनेसे जो क्रिया लगती है उसे 'अनाभोगिकी' कहते हैं।

(२०) इस लोक तथा पर लोकके विरुद्ध आचरण करनेसे 'अनवकाङ्क्षाप्रत्ययिकी'।

(२१) मन, वचन और शरीरके अयोग्य व्यापारसे 'प्रायोगिकी' क्रिया लगती है

(२२) किसी महापापसे आठों कर्मोंका समुदितरूपसे बन्धन हो, तो 'सामुदायिकी'।

(२३) माया और लोभ करनेसे जो क्रिया लगती है उसे 'प्रेमिकी' कहते हैं।

(२४) क्रोध और मानसे 'द्वेपिकी'।

(२५) सिर्फ शरीर-व्यापारसे जो क्रिया लगती है उसे 'ऐर्यापथिकी' कहते हैं।

यह क्रिया अप्रमत्त साधु तथा सयोगीकेवलीको भी लगती है।

संवरतत्त्व ।

समिई गुत्ति परिसह,
जइ धम्मो भावणा चरित्ताणि ।
पण ति दुवीस दस बार।
पंच भेएहिं सगवन्ना ॥ २० ॥

"इस गाथामें संवरके सत्तावन भेद गिनाये है."

पाँच समिति, तीन गुप्ति, बाईस परिसह, दस प्रकारका यतिधर्म, बारह भावना और पाँच प्रकारका चारित्र, ये संवरके सत्तावन भेद हैं ॥ २० ॥

संवरके दो भेद हैं; द्रव्यसंवर और भावसंवर । आते हुये नवीन कर्मको रोकनेवाले आत्माके परिणामको 'भाव संवर' कहते हैं और कर्मपुद्गलकी रुटावटको 'द्रव्यसंवर' कहते हैं ।

आर्हतधर्मके अनुसार जो चेष्टाविशेष, उसे समिति कहते हैं ।

पाँच समिति ।

(१) कोई जीव पैरसे न दब जाय इस प्रकार राहमें सावधानीसे चलना, उसे 'ईर्यासमिति' कहते हैं ।

(२) निर्दोष भाषा बोलनेको 'भाषासमिति' कहते हैं ।

(३) निर्दोष आहार जो बयालीस दोषोंसे रहित होता है, उसको लेना, 'एषणासमिति' ।

(४) दृष्टिसे देखके और रजोहरणसे प्रमार्जन करके चीजोंका उठाना और रखना, 'आदाननिक्षेप' समिति ।

(५) कफ, मूत्र, मल आदिको जीवरहित जगहमें छोड़ना, 'पारिष्ठापनिका' समिति ।

(तीन गुप्ति ।)

(६) मनोगुप्तिके तीन भेद हैं; असत्कल्पनावियोगिनी, समताभाविनी और आत्मारामता ।

आर्त्त तथा रौद्र ध्यान सम्बन्धी कल्पनाओंका त्याग, 'असत्कल्पनावियोगिनी' ।

सब जीवोंमें समान भाव, 'समताभाविनी' ।

केवल ज्ञान होनेके वाद सम्पूर्ण योगोंके निरोध करनेके समय 'आत्मारामता' ।

(७) वचनगुप्तिके दो भेद हैं; मौनावलम्बिनी और वाङ्नियमिनी । किसी अभिप्रायको समझानेके लिये भ्रुकुटि आदिसे सङ्केत न करके मौन धारण करना, 'मौनावलम्बिनी'। बाँचने या पूछनेके समय मुँहके सामने 'मुखवस्त्रिका' धारण करना, 'वाङ्नियमिनी' ।

(८) कायगुप्तिके दो भेद हैं; चेष्टानिवृत्ति और यथा-सूत्रचेष्टानियमिनी ।

१ योगनिरोधावस्थामें केवलीका सर्वथा शरीरचेष्टाका परिहार तथा २ कायोत्सर्गमें अनेक प्रकारके उपसर्ग होते हुये भी शरीरको स्थिर रखना, 'चेष्टानिवृत्ति' ।

साधु लोग, उठने बैठने सोने आदिमें जैनसिद्धान्तके मुताबिक शरीरके व्यापारको नियमित रखते हैं, उसे 'यथासूत्रचेष्टानियमिनी' कहते हैं।

खुहा पीवासा सीउण्हं,
दंसा चेला रइत्थिओ।
चरिआ निसिहिया सिज्जा,
अक्कोस वह जायणा ॥ २१ ॥

"इस गाथामें तथा अगली गाथामें बाइस परिसहोंका वर्णन है."

क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंश, चैल, अरति, स्त्री, चर्या, नैषेधिकी, शय्या, आक्रोश, वध, याचना। धर्मकी रक्षाके लिये तथा कर्म्मोंकी निर्जराके लिये प्राप्त हुये दुःखोंको सब तरहसे सहन करना, 'परिसह' कहलाता है॥२१॥

(१) क्षुधापरिसह—क्षुधाके समान कोई चीज अधिक पीड़ा देनेवाली नहीं है। भूखसे पेटकी आँतें जलने लगती हैं। कैसी भी तेज भूख लगे तौभी साधु लोग, निर्दोष आहार जबतक नहीं मिलता है तबतक भूखकी पीड़ाको सहन करते हैं। क्षुधापरिसह सब परिसहोंसे कड़ा है इसलिये प्रथम कहा गया।

(२) पिपासा—जबतक अचित्त जल न मिले तब तक प्यासके वेगको सहना।

(३) शीत—कड़ी थंड पड़ती हो तौभी आग जला कर तापे नहीं, न दूसरेकी जलाई आगसे ही शीत दूर करे। अकल्पनीय वस्त्रोंकी इच्छा न करे। जो कुछ फटे पुराने वस्त्र अपने पास हों उसीसे काम निकाले और थंडको शान्तचित्तसे सहन करे।

(४) उष्ण—अत्यन्त गरमी पड़ती हो तौभी साधु, स्नान करनेकी इच्छा न करे। छत्र धारण न करे। पह्वेकी हवा न करे। गरमीको सहन करे।

(५) दंश—वर्षाऋतुमें मच्छर आदि जीवोंका बहुत उपद्रव रहता है, कायोत्सर्ग आदि धर्मक्रियाओंमें वे जन्तु काटते हैं, उसे सहन करे।

(६) अचेल—चेलका अर्थ है वस्त्र, उसका अभाव, अचेल कहलाता है। यहाँ अचेलका मतलब सर्वथा वस्त्रोंका अभाव नहीं समझना चाहिये किन्तु आगममें साधुओंको जितने वस्त्र रखनेकी आज्ञा है उतनेही रक्खे। कीमती नये वस्त्रोंकी इच्छा न करे, जो कुछ फटे पुराने वस्त्र हों उनमें सन्तोष रक्खे।

(७) अरति—अपने मनके मुवाफिक उपाश्रय आहार आदि न मिलनेसे दुखी न होवे।

(८) स्त्री—स्त्रियोंके अंगप्रत्यंगोंको न देखे। उनके साथ एकान्तमें बात चीत करना, हँसना आदि व्यापार न करे। मोक्षमार्गमें उन्हें अर्गलाके समान समझकर कभी काम-दृष्टिसे देखे नहीं।

(९) चर्या—बहता हुआ जल और विहार करनेवाला साधु, दोनों स्वच्छ रहते हैं इसलिये साधुको किसी एक जगह अधिक ठहरना न चाहिये। धर्मका उपदेश देते हुये अप्रतिबद्ध विहार करे।

(१०) नैषेधिकी—मसान, शून्यमकान, सिंहकी गुफा आदि स्थानोंमें ध्यान करनेके समय, विविध उपसर्गोंके होने पर निषिद्ध चेष्टा न करे।

(११) शय्या—जहाँ ऊँची नीची जमीन हो, धूल पडी हो, विस्तर दुरुस्त न हो, तो नींद में खलल पहुँचती है तौ भी मनमें उद्वेग न करे।

(१२) आक्रोश—कोई गाली देवे या कटुवचन बोले, तो उसे सहन करे।

(१३) वध—कोई दुष्ट मारपीट करे या जानसे मार डाले तौ भी साधु क्रोध न करे।

(१४) याचना—साधुको चाहिये की यदि आहार आदि चीज, गृहस्थ लाकर अपने स्थान पर पहुँचावे तो न लेवे किन्तु खुद भिक्षा माँग कर लावे। मांगनेमें कोई अपमान करे तो बुरा न माने, न भिक्षा माँगनेमें लज्जा करे।
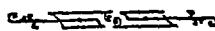
अलाभ रोग तण फासा,
मल सक्कार परीसहा।

पन्ना अन्नाण सम्मत्तं,
इअ बावीस परीसहा ॥ २२ ॥

अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और सम्यक्त्व ये बाइस परीसह हैं ॥ २२ ॥

(१५) लाभान्तराय कर्मका जब उदय होता है तो मांगने पर भी वस्तु नहीं मिलती चाहे वह चीज दाताके घरमें अधिक हो। साधु लोग निर्दोष आहार आदिकी अप्राप्तिसे उद्वेग न करें किन्तु यह समझ कर कि अन्तराय कर्मका उदय है, समचित्त बने रहें। इसे 'अलाभपरिसह' कहते हैं।

(१६) रोग—ज्वर, अतिसार आदि भयङ्कर रोग होने पर जिनकल्पी साधु चिकित्सा करानेकी इच्छा भी न करे, किन्तु अपने कृत–कर्मका परिपाक समझ कर वेदनाको सहन करे। स्थविरकल्पी साधु आगमोक्त विधिसे निरवद्य चिकित्सा करावे और कर्मफल मिल रहा है ऐसा विचार करे किन्तु वेदनाप्रयुक्त आर्तध्यान न करे।

(१७) तृण—रोगपीड़ित साधु, घास आदिके बिस्तरके तृणोंके गड़नेसे दुखी न हो किन्तु शान्तचित्तसे वेदना सहन करे।

(१८) मल—पसीनेसे शरीरमें मल बढ़ जाय, दुर्गन्ध आने लगे तौभी स्नान करनेकी इच्छा न करे।

(१९) सत्कार—लोकसमुदाय या राजा महाराजाओं की स्तुति, वन्दना या आदर–सत्कारसे साधु अपना उत्कर्ष न समझे। न तो आदर–सत्कारके न पानेसे दुखी हो।

(२०) प्रज्ञा—बड़ी विद्वत्ता होने परभी साधु घमण्ड न करे तथा अल्प ज्ञान होने पर भी शोक न करे।

(२१) अज्ञान—ज्ञानावरणीय कर्मके उदयसे पढनेमें मेहनत करने परभी विद्या हॉसिल नहीं होती। साधु कभी ऐसा दुर्ध्यान न करे कि, "मैंने गृहस्थाश्रम छोड़ा, साधु बना हूँ, तप जप करता हूँ, पढ़नेमें मेहनत करता हूँ तौभी मुझे विद्या प्राप्त नहीं होती इसलिये मुझे धिक्कार है कि साधु होकर भी मैं मूर्ख हूँ" किन्तु अपने किये कर्मका फल सोच-कर सन्तोष करे।

(२२) सम्यक्त्व—जैनसिद्धान्त, देव, गुरु, धर्म आदि जिनोपदिष्ट पदार्थोंमें सन्देह न करे।

खंती मद्दव अज्जव,
मुत्ती तव संजमे अ बोधव्वे।
सच्चं सोअं आकिं,
चणं च बंभं च जइधम्मो ॥ २३ ॥

"इस गाथामें दस प्रकारके यतिधर्मका वर्णन है."

क्षमा, मार्दव, आर्जव, मुक्ति (सन्तोष), तप, संयम, सत्य, शौच, अकिञ्चनत्व और ब्रह्मचर्य, ये दस यतिके धर्म हैं ॥ २३ ॥

सब प्राणियों पर समान दृष्टि रखनेसे क्रोध नहीं होता। क्रोधका न होना, 'क्षमा' कहाती है।

अहङ्कारका त्याग, 'मार्दव' कहाता है।

कपट न करना, 'आर्जव' कहाता है।

[illegible] करना, 'मुक्ति' कहाती है।

इच्छ[illegible] निरोध 'तप' कहाता है।

बाह्य और अभ्यन्तर भेदसे बारह प्रकारका तप है।

प्राणातिपात (हिंसा) का त्याग, 'संयम' कहाता है। सच बोलना, 'सत्य' कहाता है।

किसी जीवको तकलीफ न हो ऐसा वर्ताव करना, हाथ, पैर आदिको पवित्र रखना, चोरी न करना, 'शौच' कहाता है।

सब परिग्रहोंका त्याग, 'अकिंचनत्व' कहाता है।

मैथुनका परित्याग, 'ब्रह्मचर्य' कहाता है।

ऊपर कहे हुये दस गुण जिसमें हो, उसे साधु समझना चाहिये।

पढममणिच्चमसरणं,
संसारो एगया य अण्णत्तं।
असुइत्तं आसव सं,
वरो अ तह णिज्जरा नवमी ॥ २४ ॥

"इस गाथामें तथा आगेकी गाथामें बारह भावनाएं कही गई हैं."

अनित्यभावना, अशरणभावना, संसारभावना, एकत्व-

भावना, अन्यत्वभावना, अशुचित्वभावना, आस्रवभावना, संवरभावना, निर्जराभावना ॥ २४ ॥

(१) धन, यौवन, कुटुंब आदि, संसारके सब पदार्थ अनित्य हैं, ऐसा चिन्तन करना 'अनित्यभावना' कहाती है।

(२) सम्राट्, चक्रवर्ती, इन्द्र, तीर्थङ्कर आदि महापुरुषोंको भी मृत्युसे कोई नहीं बचा सकता, फिर साधारण जीवोंकी तो बातही क्या? मृत्युके मुखमें पडे हुये जीवका धन, कुटुंब आदि कोई शरण नहीं है, ऐसा हमेशा विचार करना तथा सिवा धर्म के किसीको शरण न मानना, 'अशरणभावना' कहाती है।

(३) चौरासी लाख योनियोंमें जीव भ्रमण करता है। किसी योनिमें माता, स्त्री बन जाती है; स्त्री, माता बन जाती है; पिता, पुत्र बन जाता है; पुत्र, पिता बन जाता है; संसारकी इस तरह की अव्यवस्थाका हमेशा विचार करना, 'संसारभावना' कहाती है।

(४) यह जीव संसारमें अकेला आया है, अकेलाही जायगा और अकेलाही सुख या दुःख भोगेगा, कोई साथी होनेवाला नहीं, ऐसा हमेशा विचार करना, 'एकत्वभावना' कहाती है।

(५) आत्मा, ज्ञानस्वरूप है; शरीर जड़ है; शरीर आत्मा नहीं, न आत्मा शरीर है; शरीर, इन्द्रिय, मन, धन, कुटुंब आदि, आत्मासे जुदे हैं, ऐसा हमेशा विचार करना, 'अन्यत्वभावना' कहाती है।

(६) यह शरीर खून, मॉस, हड्डी, मल, मूत्र आदिसे भरा है; यह शरीर किसी उपायसे पवित्र होनेवाला नहीं है, ऐसा हमेशा विचार करना, 'अशुचित्वभावना' कहाती है।

(७) संसारके जीव क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्या ज्ञान आदिसे नये नये कर्म बांधते हैं, ऐसा हमेशा विचार करना, 'आस्रवभावना' कहाती है।

(८) कर्मबन्धके कारणभूत, मिथ्याज्ञान आदिको रोकनेके उपाय सम्यक्ज्ञान आदि हैं, ऐसा विचार करना 'संवरभावना' कहाती है।

(९) निर्जराभावना दो तरहकी है;—सकामा और अकामा। समझकर तपके जरिये कर्मका क्षय करना, सकामा। विना समझे भूख प्यास आदि दुःखोंके वेगको सहन करनेसे जो कर्म क्षय होता है, उसे अकामा कहते हैं। ऐसे चिन्तनको 'निर्जराभावना' कहते हैं।
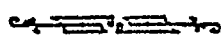
लोगसहावो वोही,
दुल्लहा धम्मस्स साहगा अरिहा।
एआओ भावणाओ,
भावे अव्वा पयत्तेणं ॥ २५ ॥

लोकस्वभावभावना, बोधिदुर्लभभावना और धर्मके साधक सर्वज्ञ वीतरागका पाना मुश्किल है, इस तरहकी धर्मभावना, इन बारह भावनाओंको प्रयत्नसे विचारे ॥ २५ ॥

(१०) कमर पर दोनों हाथोंको रखकर और पैरोंको फैला कर खड़े हुये पुरुषकी आकृतिके समान यह लोक है, जिसमें धर्मास्तिकायादि छह द्रव्य भरे पडे हैं। ऐसा विचार करना, 'लोकभावना' कहाती है।

(११) संसारमें अनन्तकालसे जीव भ्रमण कर रहा है अनेक बार चक्रवर्ती हुआ; मनुष्यजन्म, उत्तम कुल, आर्य देश पाया तथापि सम्यक्ज्ञान (यथार्थज्ञान) पाना मुश्किल है, इस भावना को 'बोधिदु[illegible]' कहते हैं।

(१२) संसारसमुद्रसे पार उत[illegible]ने नौकाके समान जिनेश्वर भगवान्का बतलाया हुआ क्षमा आदि दश प्रकारका धर्म पाना तथा भगवान्को पाना मुश्किल है; ऐसे विचारको 'धर्मभावना' कहते हैं।
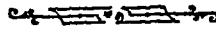
सामाइअत्थ पढमं,
छेओवट्ठावणं भवे बीअं।
परिहारविसुद्धीअं,
सुहमं तह संपरायं च ॥ २६ ॥

"इस गाथामें पाँच प्रकारके चारित्रका वर्णन है."

सामायिकचारित्र, छेदोपस्थापनीयचारित्र, परिहारविशुद्धिचारित्र, सूक्ष्मसंपरायचारित्र ॥ २६ ॥

(१) सदोष व्यापारका त्याग और निर्दोष व्यापारका

सेवन अर्थात् जिससे ज्ञान, दर्शन और चारित्रकी प्राप्ति हो, उस व्यापारको 'सामायिकचारित्र' कहते हैं।

(२) प्रधान साधुके द्वारा दिये हुये पाँच महाव्रतोंको 'छेदोपस्थापनीय' चारित्र कहते हैं।

(३) नव साधु गच्छसे अलग होकर सिद्धान्तमें लिखी हुई विधिके अनुसार अठारह मासतक तप करते हैं, उसे 'परिहारविशुद्धिचारित्र' कहते हैं।

(४) दसवें गुणस्थानकमें पहुँचे हुये साधुके चारित्रको 'सूक्ष्मसंपरायचारित्र' कहते हैं।
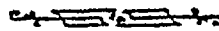
तत्तोअ अहक्खायं,
खायं सव्वंमि जीवलोगंमि।
जं चरिऊण सुविहिआ,
वच्चंति अयरामरं ठाणं ॥ २७ ॥

सब लोकमें यथाख्यात–चारित्र प्रसिद्ध है, जिसका सेवन करके साधु लोग, मोक्ष पाते हैं ॥ २७ ॥

(५) क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायोंके सर्वथा क्षय होने पर साधुका जो चारित्र है, उसे "यथाख्यात-चारित्र" कहते हैं।

इस जमानेमें आदिके दो चारित्र हैं, अन्तके तीन व्युच्छिन्न हुये।

संवरतत्त्व समास।

निर्जरातत्त्व ।

अणसणमूणोअरिआ,
    वित्तीसंखेवणं रसच्चाओ ।
कायकिलेसो संली,
    णया य बज्झो तवो होइ ॥ २८ ॥

"इस गाथामें छह प्रकारका बाह्य तप कहा है" ।

अनशन, ऊनोदरता, वृत्तिसंक्षेप, रसत्याग, कायक्लेश और संलीनता, ये छह प्रकारके बाह्य तप हैं ॥ २८ ॥

(१) आहारका त्याग, 'अनशन' कहलाता है, वह दो प्रकारका है; 'इत्वर' और 'यावत्कथिक' । चतुर्थ, षष्ठ, अष्टम आदि तप, 'इत्वर' कहलाता है और जब तक जीवे तब तक आहारका त्याग, 'यावत्कथिक' तप कहलाता है ।

(२) आहार कम करना, 'ऊनोदरता' तप कहाता है ।

(३) वृत्तिका–आजीविकाका–संक्षेप करना, 'वृत्तिसंक्षेप' तप है । द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे चार प्रकारका यह तप है ।

(४) दूध, घी, तेल, दही, गुड़, शक्कर आदिका त्याग, 'रसत्याग' कहलाता है; जैसे नीवी, आम्बिल आदि तप ।

(५) साधु लोग, लोच करते हैं अर्थात् सिरके बाल उखाड़ते हैं, कायोत्सर्ग करते हैं और भी अनेक प्रकारसे शरीरको कष्ट पहुँचता है, उसे सहते हैं, यह सब 'कायक्लेश' तप कहलाता है ।

(६) इन्द्रियोंको वशमें रखना; क्रोध, लोभ आदि न करना; मन, वचन, कायासे किसी जीवको तकलीफ न होने देना; उपाश्रय आदि एकान्त जगहमें रहना; यह 'संलीनता' तप कहलाता है।

पायच्छित्तं विणओ,
वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।
ज्झाणं उस्सग्गो विअ,
अब्भिंतरओ तवो होई॥ २९॥

"इस गाथामें छह प्रकारका अभ्यन्तर तप कहा है"।

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और उत्सर्ग, ये छह अभ्यन्तर तप हैं॥ २९॥

(१) जो पाप किये हों, उन्हें गुरुके पास कहे, पापशुद्धिके लिये गुरु जो तप बतलावें, उसे करे, यह "प्रायश्चित्त" कहाता है।

(२) देव, गुरु, माता, पिता आदि पूज्योंका आदर-सत्कार करना, उन्हें अपने शुद्ध आचरणसे सन्तुष्ट रखना; इसे 'विनय' कहते हैं।

(३) आचार्य, उपाध्याय, साधु, तपस्वी, दीन आदिको अन्न, जल, वस्त्र, ठहरनेके लिये जगह आदि देना; इसे 'वैयावृत्य' कहते हैं।

(४) पढ़ना, पढ़ाना, सन्देह होने पर गुरुसे पूछना;

पढ़े हुये ग्रन्थको याद रखना, धर्मकी कथा कहना, धर्मका उपदेश देना; यह सब 'स्वाध्याय' कहलाता है।

(५) चित्तकी एकाग्रताको 'ध्यान' कहते हैं, उसके चार भेद हैं;—आर्त, रौद्र, धर्म, और शुक्ल।

आर्त और रौद्र ध्यान का त्याग करना चाहिये।

धर्म और शुक्ल ध्यानका सेवन करना चाहिये।

आर्त—मित्र, माता, पिता आदिके मृत्यु होने पर शोक करना; कोढ़ी, रोगी आदि को देखकर घृणा करना; शरीरमें कोई रोग होने पर उसीकी चिन्ता करना; इस जन्ममें किये हुये दान आदि तपका दूसरे जन्ममें अच्छे फल पानेकी चिन्ता करना; ये सब 'आर्तध्यान' कहलाते हैं।

रौद्र—द्वेषसे किसी जीवको मारने या उसे कष्ट पहुँचानेकी चिन्ता करना; छल, कपट करके दूसरेका धन लेनेकी चिन्ता करना; हिस्सेदार कुटुंबी मर जॉय तो मैं अकेलाही मालिक बन बैठूंगा ऐसी चिन्ता करना; ये सब 'रौद्रध्यान' कहाते हैं।

धर्म—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वैराग्य आदिकी भावना करना; सर्वज्ञ वीतरागके उपदेशरूप सिद्धान्तमें सन्देह न करके उसपर पूरी श्रद्धा रखना; राग, द्वेष, क्रोध, काम, लोभ, मोह आदि, इस लोक तथा परलोकमें भी दुःख देने वाले हैं ऐसा चिन्तन करना; सुख–दुःख प्राप्त होने पर हर्ष और शोक न कर पूर्वकर्मका फल मिल रहा है, ऐसा

समझना; जिनेन्द्र भगवान्के कहे हुये छह द्रव्योंका विचार करना: यह सब 'धर्मध्यान' कहाता है।

शुक्ल—शुक्लध्यान के चार भेद हैं: 'पृथक्त्ववितर्क विचार,' 'एकत्ववितर्कविचार,' 'सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति' और 'व्युपरत-क्रियानिवृत्ति'.

(१) द्रव्य, गुण और पर्यायके जुदाई को पृथक्त्व कहते हैं; अपनी आत्माके शुद्ध स्वरूपका अनुभवरूप भावश्रुत, वितर्क कहलाता है और मन, वचन, और काय, इन तीन योगोंमेंसे एक योग ग्रहण कर दूसरेमे सङ्क्रमण करना, विचार कहलाता है।

(२) आत्म—द्रव्यमें या उसके विकार—रहित सुखके अनुभवरूप पर्यायमें या निरुपाधि—ज्ञान—रूप गुणमें आत्मा-नुभवरूप भावश्रुतके बलसे स्थिर होकर द्रव्य, गुण और पर्यायोंका विचार करना।

(३) तेरहवें गुणस्थानके अन्तमें मनोयोग और वचन-योगको रोकनेके बाद काययोगको रोकनेमें प्रवृत्त होना।

(४) तीनों योगोंका अभाव होनेपर फिर च्युत न होने-वाला अनन्त ज्ञान, अनन्त सुखका एकरस अनुभव।

(५) उत्सर्ग तपके द्रव्य और भावरूपसे दो भेद हैं। द्रव्यउत्सर्ग—गच्छका त्याग करके 'जिनकल्प' स्वीकार करना: अनशनव्रत लेकर शरीरका त्याग; किसी कल्पविशेषमें उपधिका त्याग: सदोष आहारका त्याग; ये सब 'द्रव्योत्सर्ग' कहलाते हैं।

भावोत्सर्ग—क्रोध, मान, माया और लोभका त्याग; नरक आदि योनिकी आयु वान्धनेमें कारणभूत मिथ्याज्ञान आदिका त्याग; ज्ञानके आवरण करनेवाले ज्ञानावरणीय आदि कर्मका त्याग; ये सब 'भावोत्सर्ग' कहलाते हैं।
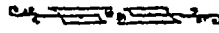
बारसाविहं तवोणि,
जराय बंधो चउ विगप्पो अ।
पयई ठिइ अणुभागो,
पएस भेएहिं नायव्वो ॥ ३० ॥

"इस गाथामें कुछ अंशका सम्बन्ध निर्जरातत्त्वके साथ है, अवशिष्ट अंशमें वन्धतत्त्वके चार भेद कहे गये हैं"

प्रथम कहे हुये वारह प्रकारके तपही निर्जरातत्त्वके बारह भेद हैं। प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और वन्ध, ये चार वन्धके भेद हैं ॥ ३० ॥
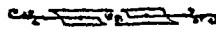
पयइ सहावो वुत्तो,
ठिइ कालावहारणं।
अणुभागो रसो णेओ,
पएसो दलसंचओ ॥ ३१ ॥

"इस गाथामें पूर्वोक्त प्रकृति आदिका स्वरूप कहा गया है"

कर्मका स्वभाव 'प्रकृतिवन्ध' कहा जाता है; कर्मके का-

लका निश्चय 'स्थितिबन्ध'; कर्मका रस 'अनुभागबन्ध' और कर्मके दलका संचय, 'प्रदेशबन्ध' कहाता है ॥ ३१ ॥

प्रकृतिबन्ध—जिस तरह वात, पित्त और कफके हरण करनेवाली चीजोंसे बने हुए लड्डुका स्वभाव, वात आदिका दूर करना है उसी तरह किसी कर्मका स्वभाव जीवके ज्ञानका आवरण करना; किसी कर्मका जीवके दर्शनका आवरण करना: किसीका स्वभाव चारित्रका आवरण करना होता है; इस स्वभावको प्रकृतिबन्ध कहते हैं।

स्थितिबन्ध—जैसे बना हुआ लड्डु. महीना छह महीने या वर्ष तक एकही हालतमें रहता है उसी तरह कोई कर्म अन्तर्मुहूर्त तक रहता है, कोई सत्तर क्रोडाक्रोडी सागरोपम तक, कोई वर्ष तक, इसीको 'स्थितिबन्ध' कहते हैं।

अनुभागबन्ध—जिस तरह कोई लड्डु, मीठा होता है कोई कडुवा और कोई तीक्ष्ण; उसी तरह ग्रहण किये हुये कर्मदलोंमें किसीका मधुर रस; किसीका कडुआ और किसीका तीक्ष्ण इत्यादि अनेक प्रकारका रस होता है, उसे 'रसबन्ध' कहते हैं। अनुभाग और रस, दोनोंका मतलब एकही है।

प्रदेशबन्ध—जैसे कोई लड्डु पावभर, कोई आधसेर परिमाणका होता है उसी तरह कोई कर्मदल, परिमाणमें कम होता है और कोई ज्यादा, अनेक प्रकारके परिमाण होते हैं, इन परिमाणोंको 'प्रदेशबन्ध' कहते हैं।

मोक्षतत्त्व।

संतपयपरूवणया,
दव्वपमाणं च खित्तफुसणा य
कालो अ अंतरभाग,
भावे अप्पा वहु चेव ॥ ३२ ॥

"इस गाथामें मोक्षके नव भेद कहे हैं"

सत्पदप्ररूपणाद्वार, द्रव्यप्रमाणद्वार, क्षेत्रद्वार, स्पर्शना-द्वार, कालद्वार, अन्तरद्वार, भागद्वार, भावद्वार और अल्प-बहुत्वद्वार; ये मोक्षके नव द्वार हैं अर्थात् मोक्षका स्वरूप समझनेके नव भेद हैं ॥ ३२ ॥
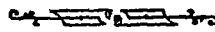
संतं सुद्धपयत्ता,
विज्जतं खकुसुमव्व न असंतं।
मुक्खत्ति पयं तसओ,
परूवणा मग्गणा ईहिं ॥ ३३ ॥

"इस गाथामें सत्पदप्ररूपणाद्वारका स्वरूप कहा है"

मोक्ष, सत् अर्थात् विद्यमान है क्योंकि उसका वाचक एक पद है; आकाशकुसुमकी तरह वह अविद्यमान नहीं है; मार्गणा द्वारा मोक्षकी प्ररूपणा (विचार) की जाती है ॥ ३३ ॥

एक पदका वाच्य अर्थ अवश्य होता है; घट, पट आदि एक पदवाले शब्द हैं उनका वाच्य अर्थ भी विद्यमान है। दो पदवाले शब्दोंके वाच्य अर्थ होते भी हैं, और नहीं भी होते;—, जैसे 'गोशृङ्ग', 'महिषशृङ्ग'। ये शब्द, दो दो पदोंसे बने हैं, इनका वाच्य अर्थ, 'गायका सींग', 'भैंसका सींग' प्रसिद्ध है। 'खरशृङ्ग', 'अश्वशृङ्ग' ये दो शब्द भी दो दो पदोंसे बने हुये हैं परन्तु इनके वाच्य अर्थ, 'गधेका सींग', 'घोड़ेका सींग' अविद्यमान हैं। मोक्ष शब्द एक पदवाला होनेसे उसका वाच्य अर्थ भी घट, पट आदि पदार्थोंकी तरह विद्यमान है। इस प्रकार अनुमानप्रमाणसे 'मोक्ष है' यह बात सिद्ध होती है।

नरगइ पणिंदि तसभव,
सन्नि अहक्खाय खइअसम्मत्ते।
मुक्खोणाहारकेवल,
दंसणनाणे न सेसेसु ॥ ३४ ॥

"इस गाथामें यह बतलाया गया है कि जीव किन मार्गणाओंके द्वारा मोक्ष पाता है।"

मनुष्यगति, पञ्चेन्द्रिय, त्रसकाय, भवसिद्धिक, संज्ञी, यथाख्यातचारित्र, क्षायिकसम्यक्त्व, अनाहार, केवलदर्शन और केवलज्ञान, इन दस मार्गणाओंके द्वारा मोक्ष होता है, शेष मार्गणाओंके द्वारा नहीं ॥ ३४ ॥

सम्पूर्ण जीव-द्रव्यका जिसके जरिये विचार किया जाय उसे 'मार्गणा' कहते हैं।

मार्गणाके मूलभूत चौदह भेद हैं और उत्तर भेद बासठ।

(१) नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव इन चार गतियोंमेंसे सिर्फ मनुष्यगतिसे मोक्ष मिलता है, तीन गतियोंसे नहीं।

(२) इन्द्रियमार्गणा के पाँच भेद हैं; एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय। इनमेंसे पञ्चेन्द्रिय-द्वार में मोक्ष होता है अर्थात् पाँचो इन्द्रियाँ पाया हुआ जीव मोक्ष जा सकता है।

(३) कायमार्गणाके छह भेद हैं; पृथ्वीकाय, अपूकाय, तेजःकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय। इनमेंसे त्रसकायके जीव मोक्ष जासकते हैं, अन्य कायके नहीं।

(४) भवसिद्धकमार्गणाके दो भेद हैं; भवसिद्धक और अभवसिद्धक। इनमेंसे भवसिद्धक अर्थात् भव्य-जीव मोक्ष जासकते हैं, अभव्य नहीं।

(५) संज्ञीमार्गणाके दो भेद हैं; संज्ञीमार्गणा और असंज्ञीमार्गणा। इनमेंसे संज्ञी जीव मोक्ष जासकते हैं, असंज्ञी नहीं।

(६) चारित्रमार्गणाके पाँच भेद हैं; सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात-चारित्र। इनमेंसे यथाख्यात-चारित्रका लाभ होनेपर जीव मोक्ष जाता है, अन्य-चारित्रसे नहीं।

(७) सम्यक्त्वमार्गणाके पाँच भेद हैं; औपशमिक, सास्वादन, क्षायोपशमिक, वेदक और क्षायिक। इनमेंसे क्षायिक–सम्यक्त्वका लाभ होनेपर जीव मोक्ष जाता है, अन्य–सम्यक्त्वसे नहीं।

(८) अनाहार–मार्गणाके दो भेद हैं; अनाहारक और आहारक। इनमेंसे अनाहारक–जीवको मोक्ष होता है; आहारक अर्थात् आहार करनेवालेको नहीं।

(९) ज्ञानमार्गणाके पाँच भेद हैं; मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान। इनमेंसे केवल-ज्ञान होने पर मोक्ष होता है: अन्य ज्ञानसे नहीं।

(१०) दर्शनमार्गणाके चार भेद हैं; चक्षुर्दर्शन, अचक्षु-दर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। इनमेंसे केवल–दर्शन होने पर मोक्ष होता है, अन्य दर्शनसे नहीं।
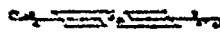
दव्वपमाणे सिद्धा,
णं जीवदव्वाणि हुंति णंताणि।
लोगस्स असंखिज्जे,
भागे इक्कोय सव्वेवि ॥ ३५ ॥

"इस गाथामें द्रव्यप्रमाणद्वार और क्षेत्रद्वारका वर्णन है।"

द्रव्यप्रमाणद्वारके विचारसे सिद्धोंके जीव–द्रव्य अनन्त हैं।

क्षेत्र–द्वारके विचारसे लोकाकाशके असंख्यातवें भागमें

एक सिद्ध रहता है, उसी तरह सब सिद्ध, लोकाकाशके असंख्यातवें भागमें रहते हैं ॥ ३५ ॥ परन्तु एक सिद्धसे व्याप्त क्षेत्रकी अपेक्षा, सब सिद्धोंसे व्याप्त क्षेत्रका परिमाण अधिक है।
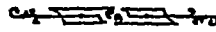
फुसणा अहिआ कालो,
इग सिद्ध पडुच्च साइ ओणंतो।
पडिवाया भावाओ,
सिद्धाणं अंतरं नत्थि ॥ ३६ ॥

"इस गाथामें स्पर्शना, काल और अन्तर, ये तीन द्वार कहे हैं।"

(१) क्षेत्रसे सिद्ध जीवोंकी स्पर्शना अधिक है। एक सिद्धकी अपेक्षासे काल, सादि (आदिसहित) और अनन्त होता है। सिद्ध-गतिमें गये हुए जीवका पतन नहीं होता इसलिये अन्तर नहीं है ॥ ३६ ॥

जीव, कर्मसे मुक्त होकर जिस आकाश-क्षेत्रमें रहते हैं, उसे सिद्धक्षेत्र कहते हैं। उसका (सिद्धाकाशक्षेत्रका) प्रमाण पैंतालीस लाख योजन लंबा चौड़ा है, उस क्षेत्रमें विद्यमान सिद्धोंके नीचे, ऊपर तथा चारों तरफ आकाश प्रदेश लगे हुये हैं इसलिये क्षेत्रकी अपेक्षासे सिद्ध-जीवोंको स्पर्शना अधिक है।

(२) एक सिद्धकी अपेक्षासे काल, सादि-अनन्त है,

जिस समय जीव मोक्ष गया, वह काल उस जीवके मोक्षका आदि है, फिर उस जीवका मोक्ष-गतिसे पतन नहीं होता इसलिये अनन्त है।

सब सिद्धोंकी अपेक्षासे विचारें तो मोक्षकाल, अनादि अनन्त है क्योंकि यह नहीं कहा जासकता कि, अमुक जीव सबसे प्रथम मुक्त हुआ। अर्थात् उससे पहले कोई जीव मुक्त न था।

(३) अन्तर उसे कहते हैं: "यदि सिद्ध अपनी अवस्थासे पतित होकर दूसरी योनि धारण करनेके बाद फिर सिद्ध-गति प्राप्त करे;" सो हो नहीं सकता क्योंकि सिद्धगतिको छोड़ कर अन्य-गति पानेका कोई निमित्त नहीं है, इसलिये उक्त अन्तर मोक्षमें नहीं है। अथवा सिद्धोंमें परस्पर क्षेत्रकृत अन्तर नहीं है क्योंकि जहाँ एक सिद्ध है, वहीं बहुतसे सिद्ध हैं। कालकृत और क्षेत्रकृत, दोनों अन्तर सिद्धोंमें नहीं है।

सव्वजियाणमणंते,
भागे ते तेसिं दंसणं नाणं।
खइए भावे परिणा,
मिएअ पुण होइ जीवत्तं ॥ ३७ ॥

"इस गाथामें भागद्वार और भावद्वार कहते हैं"

सब सिद्धोंके जीव, संसारी जीवोंका अनन्तवाँ भाग है। उन सिद्धोंका केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन, क्षायिक-भावसे और जीवितव्य (जीना), पारिणामिक-भावसे है ॥ ३७ ॥

(१) भागद्वार—भूत, भविष्यत और वर्तमान इन तीनों कालोंमें यदि कोई ज्ञानीसे सिद्धोंके बारेमें पूछे तो, ज्ञानी यही उत्तर देगा कि; "असङ्ख्यात निगोद हैं, प्रत्येक निगोदमें अनन्त जीव हैं, उनमेंसे एक निगोदका अनन्तवां भाग मोक्ष पा चुका," इसे भागद्वार कहते हैं।

(२) भावद्वार—सिद्धोंके दो भाव होते हैं; क्षायिक और पारिणामिक। क्षायिक के नव भेद हैं और पारिणामिकके तीन। केवलज्ञान और केवलदर्शनसे अतिरिक्त सात क्षायिक-भाव सिद्धको नहीं होते इसी प्रकार जीवितव्यको छोडकर अन्य दो पारिणामिक-भाव भी नहीं होते।

क्षायिकभाव ये हैं; दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, सम्यक्त्व, चारित्र, केवलज्ञान और केवलदर्शन।

किसी कर्मके क्षयसे होनेवाले भावको क्षायिक भाव कहते हैं।

परिणामिक भाव ये हैं; भव्यत्व, अभव्यत्व और जीवितव्य।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य-रूप भाव-प्राण, सिद्ध जीवोंके हैं। पाँच इन्द्रियाँ, मनोबल, वचनबल, कायबल, श्वास, उच्छ्वास और आयु, ये दस द्रव्यप्राण सिद्धोंके नहीं होते। उपशम, क्षय, और क्षयोपशमकी अपेक्षा न रखनेवाले जीवके स्वभावको पारिणामिक-भाव कहते हैं।
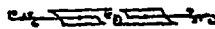
थोवा नपुंससिद्धा,
थीनरसिद्धा कमेण संखगुणा।

इअ मुक्खतत्तमेअं,
नव तत्ता लेसओ भणिआ ॥ ३८ ॥

"इस गाथामें अल्पबहुत्वद्वार कहा है।"

नपुंसक-सिद्ध, कम हैं; उससे स्त्री-सिद्ध, संख्यात गुण अधिक हैं; स्त्री-सिद्धसे पुरुष-सिद्ध सङ्ख्यात गुण अधिक हैं। यह मोक्ष-तत्त्व तथा नवतत्त्व संक्षेपसे कहे गये ॥ ३८ ॥

दो तरहके नपुंसक होते हैं: जन्मसिद्ध और कृत्रिम। जन्मसिद्ध नपुंसकोंको मोक्ष नहीं होता, कृत्रिम नपुंसक एक समयमें उत्कृष्ट दस तक मोक्ष जाते हैं, एक समयमें उत्कृष्ट बीस तक स्त्रियाँ मोक्ष जाती हैं और पुरुष एक समयमें उत्कृष्ट एक सौ आठ तक मोक्ष जाते हैं।
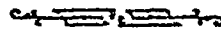
जीवाइ नव पयत्थे,
जो जाणइ तस्स होइ सम्मत्तं।
भावेण सद्दहंतो,
अयाणमाणेवि सम्मत्तं ॥ ३९ ॥

"इस गाथामें नवतत्त्व जाननेका फल कहते हैं।"

जो जीव, जीवादि नवतत्त्वोंको जानता है उसे सम्यक्त्व प्राप्त होता है। जीवादिपदार्थोंके नहीं जाननेवाले भी यदि अन्तःकरणसे ऐसी श्रद्धा रक्खें कि, "सर्वज्ञ वीतराग, जिनेश्वर भगवानके कहे हुये नवतत्त्व सच हैं, अशङ्कनीय हैं," तो समझना चाहिये कि उन्हें भी सम्यक्त्व है ॥ ३९ ॥

सव्वाइ जिणेसर भा,
सिआइं वयणाइ नन्नहा हुंति ।
इय बुद्धी जस्स मणे,
सम्मत्तं निच्चलं तस्स ॥ ४० ॥

"इस गाथामें सम्यक्त्वका स्वरूप कहा गया है ।"

जिनेन्द्र भगवान्के वचन अन्यथा (झूठ) नहीं है, ऐसी जिसकी बुद्धि हो, उसे निश्चल सम्यक्त्व हुआ है, ऐसा समझना चाहिये ॥ ४० ॥

आप्त, वीतराग, सर्वज्ञके उपदिष्ट पदार्थ सच हैं, ऐसी दृढ श्रद्धाको (आत्माके परिणाम-विशेषको) सम्यक्त्व कहते हैं।
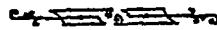
अंतो मुहुत्त मित्तं,
पि फासिअं हुज्ज जेहिं सम्मत्तं ।
तेसिं अवड्ढ पुग्गल,
परिअट्टो चेव संसारो ॥ ४१ ॥

"इस गाथामें सम्यक्त्व लाभका फल कहते हैं ।"

जिनको एक अन्तर्मुहूर्त मात्र भी सम्यक्त्वका स्पर्श हुआ हो, उनका अर्ध पुद्गलपरावर्त संसार बाकी रहा है ॥ ४१ ॥

सिर्फ अन्तर्मुहूर्त तक जिस जीवका परिणाम, सम्यक्त्वरूप होगया हो, उस जीवको अर्ध पुद्गलपरावर्त तक संसारमें भ्रमण करना पड़ेगा, बाद मोक्ष मिलेगा.

यह कालपरिमाण उस जीवके लिये कहा गया है जिसने बहुत आशातना की हो, या करनेवाला हो। शुद्ध सम्यक्त्वका आराधन करनेवाला जीव तो, उसी जन्ममें, कोई जीव तीसरे जन्ममें, कोई सातवें जन्ममे, कोई आठवे जन्ममें इसतरह शीघ्र मुक्ति पाता है।
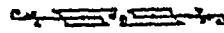
उस्सप्पिणी अणंता,
पुग्गलपरिअट्टओ मुणेअव्वो।
तेणंताती अद्धा,
अणागयद्धा अणंत गुणा ॥ ४ ॥

"इस गाथामें पुद्गल परावर्तका स्वरूप कहा हैं"।

अनन्त उत्सार्पिणी और अनन्त अवसर्पिणी बीत जानेपर एक 'पुद्गलपरावर्तन' होता है, इस तरहके अनन्त 'पुद्गल परावर्तन' पहले हो चुके और अनन्त गुण आगे होंगे ॥४२॥
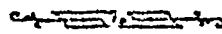
जिण अजिण तित्थ तित्था,
गिहि अन्न सलिंग थी नर नपुंसा।
पत्तेय सयंबुद्धा,
बुद्धबोहियक्क सिद्धणिक्काय ॥ ४३ ॥

"इस गाथामें सिद्धोंके पंद्रह भेद कहे गये है।"

(१) तीर्थङ्कर सिद्ध, (२) अतीर्थङ्कर सिद्ध, (३) तीर्थसिद्ध, (४) अतीर्थसिद्ध, (५) गृहस्थलिङ्गसिद्ध, (६) अन्यलीङ्ग सिद्ध, (७) स्वलिङ्गसिद्ध, (८) स्त्रीसिद्ध, (९) पुरुषसिद्ध, (१०) नपुंसकसिद्ध, (११) प्रत्येकबुद्धसिद्ध, (१२) स्वयंबुद्धसिद्ध, (१३) बुद्धबोधितसिद्ध, (१४) एक सिद्ध और (१५) अनेकसिद्धः ये पंद्रह सिद्धके भेद हैं ॥ ४३ ॥

(१) तीर्थङ्कर होकर जिन्होंने मुक्ति पाई, वे जिन–तीर्थङ्कर सिद्ध। ऋषभ, महावीर आदि।

(२) सामान्य केवली, अजिन–अतीर्थङ्करसिद्ध कहलाते हैं, जैसे पुण्डरीक आदि।

(३) चतुर्विध संघकी स्थापना करनेके बाद जिन्होंने मुक्ति पाई वे 'तीर्थसिद्ध,' जैसे गौतम आदि गणधर।

(४) चतुर्विध संघकी स्थापना करनेके पहले जिन्होंने मुक्ति पाई वे अतीर्थसिद्ध, जैसे मरुदेवी आदि।

(५) गृहस्थके वेषमें जिन्होंनें मुक्ति पाई वे 'गृहस्थलिङ्ग सिद्ध,' जैसे मरुदेवी माता आदि।

(६) संन्यासी आदि अन्यवेषधारी साधुओंने मुक्ति पाई वे 'अन्यलिङ्गसिद्ध,' जैसे 'वल्कलचीरी' आदि।

(७) रजोहरण आदि अपने वेषमें रहकर जिन्होंने मुक्ति पाई वे 'स्वलिङ्गसिद्ध,' जैसे जैनवेषधारी साधु।

(८) 'स्त्रीलिङ्गसिद्ध,' जैसे चन्दनबाला आदि ।

(९) 'पुरुषलिङ्गसिद्ध,' जैसे गौतम आदि ।

(१०) 'नपुंसकलिङ्गसिद्ध,' जैसे भीष्म आदि ।

(११) किसी अनित्य पदार्थको देखकर विचार करते करते जिन्हें बोध हुआ बाद केवलज्ञान प्राप्त हुआ और सिद्ध हुए वे 'प्रत्येकबुद्धसिद्ध,' जैसे करकण्डू राजा आदि ।

(१२) 'स्वयंबुद्धसिद्ध':—बिना उपदेशके, पूर्वजन्मके संस्कार उद्बुद्ध होनेसे जिन्हें ज्ञान हुआ और सिद्ध हुए वे । जैसे कपिल आदि ।

(१३) गुरुके उपदेशसे ज्ञानी होकर जो सिद्ध हुये, वे, 'बुद्धबोधित सिद्ध' ।

(१४) एक समयमें एक ही मोक्ष जानेवाले 'एकसिद्ध,' जैसे महावीर स्वामी आदि ।

(१५) एक समयमें अनेक मुक्त होनेवाले 'अनेकसिद्ध' कहलाते हैं, जैसे ऋषभदेव आदि ।

Printed by Ramchandra Yesu Shedge, at the Nirnaya sagar Press, 23, Kolbhat Lane, Bombay.

Published by Tikamchand Dalelsinha Jauhari, Nawghara, Delhi.

परिशिष्ट.

नवतत्वकी दूसरी प्रतिमें १९ गाथायें अधिक हैं, जो यहाँ दी जाती हैं.

इनकी सङ्ख्या उस प्रतिमें क्रमशः इस प्रकार है:—
५।६।७।११।१४।२६।३८।३९।४०।४१।४२।४५।५६।
५७।५८।५९.

"जीवका लक्षण."

नाणं च दंसणं चेव,
चरित्तं च तवो तहा ।
वीरियं उवओगो अ,
एअं जीअस्स लक्खणं ॥ १ ॥

ज्ञान, दर्शन, चरित्र, तप, वीर्य और उपयोग, ये जीवके लक्षण हैं—अर्थात् ये, जीवको छोड़ कर किसी दूसरे पदार्थमें नहीं रहते ॥ १ ॥

(१) पाँच प्रकारका ज्ञान और तीन प्रकारका अज्ञान; ये दोनों ज्ञान–शब्दसे लिये जाते हैं.

ज्ञानके पाँच भेद ये हैं:—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधि-ज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान.

अज्ञानके तीन भेद ये हैं;—मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, विभङ्गज्ञान. इनको क्रमसे कुमति, कुश्रुत और कुअवधि भी कहते हैं.

जिस जीवमें ज्ञान हो, उसे सम्यग्दृष्टि और जिसमें अ-ज्ञान हो उसे मिथ्यादृष्टि कहते हैं.

(२) दर्शनके चार भेद हैं;—चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन.

(३) चारित्रके दो भेद हैं;—भावचारित्र और द्रव्य-चारित्र. भावचारित्रके पाँच भेद हैं;—सामायिक, छेदोप-स्थापनीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात.

क्रियाके निरोधको द्रव्यचारित्र कहते हैं.

(४) तपके दो भेद हैं;—द्रव्यतप और भावतप.

द्रव्यतपके बारह भेद हैं, वे २८-२९-३० वीं गाथाओं-में कहे गये हैं.

इच्छाके निरोधको भावतप कहते हैं.

(५) सामर्थ्य, बल अथवा पराक्रमको वीर्य कहते हैं.

(६) उपयोगके दो भेद हैं;—साकार और निराकार. साकार उपयोगको ज्ञान कहते हैं, और निराकार उपयोगको दर्शन.

"छह पर्याप्तियोंके नाम, और वे किन जीवोंको कितनी होती हैं, सो कहते हैं."

आहार सरीर इंदिय,
पज्जत्ती आणपाण भासमणे ।
चउ पंच पंच छप्पिअ,
इग विगला सन्नि सन्नीणं ॥ २ ॥

आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, श्वासोच्छ्वास-पर्याप्ति, भाषापर्याप्ति और मनःपर्याप्ति, ये छह पर्याप्तियाँ हैं. एकेन्द्रिय जीवको चार; विकलेन्द्रिय तथा असंज्ञी पञ्चेन्द्रियको पाँच, और संज्ञीपञ्चेन्द्रियको छह पर्याप्तियाँ होती हैं ॥ २ ॥ पर्याप्तियोंका अर्थ चौथी गाथामें देख लेवें.
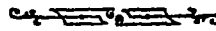
"द्रव्य-प्राणोंके दस भेद, और वे किन जीवोंको कितने हैं, सो कहते हैं."

पणिंदअ [illegible] बलूसा,
साउ दस पाण चउ छ सग अट्ठ ।
इग दुति चउरिंदीणं,
असन्नि सन्नीण नवदस य ॥ ३ ॥

पाँच इन्द्रियाँ, तीन बल, श्वासोच्छ्वास और आयु, ये दस प्राण कहलाते हैं. एकेन्द्रियको चार प्राण; द्वीन्द्रियको छह;

त्रीन्द्रियको सात; चतुरिन्द्रियको आठ; असंज्ञी पञ्चेन्द्रियको नव और संज्ञी पञ्चेन्द्रियको दस प्राण होते है ॥ ३ ॥

(१) एकेन्द्रियके चार प्राण ये हैं;—त्वगिन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास कायवल और आयु.

(२) एकेन्द्रियजीवकी अपेक्षा, द्वीन्द्रिय जीवके रसनेन्द्रिय और वचनवल—ये दो प्राण अधिक हैं.

(३) द्वीन्द्रियकी अपेक्षा, त्रीन्द्रिय जीवको घ्राणेन्द्रिय-प्राण अधिक है.

(४) त्रीन्द्रियकी अपेक्षा चतुरिन्द्रिय जीवके चक्षुरिन्द्रिय और वचनवल—ये दो प्राण अधिक हैं.

(५) चतुरिन्द्रियकी अपेक्षा, असंज्ञी पञ्चेन्द्रियको श्रोत्रेन्द्रिय—यह एक प्राण अधिक है.

(६) असंज्ञी पञ्चेन्द्रियकी अपेक्षा, संज्ञी पञ्चेन्द्रियको मनोवल—यह एक प्राण अधिक है.

असंज्ञी पञ्चेन्द्रियके दो भेद हैं—मनुष्य और तिर्यञ्च,

इनको सम्मूर्च्छिम कहते है. सम्मूर्च्छिम मनुष्यको वचनवल नहीं होता इसलिये उसको आठ प्राण समझना चाहिये. वह यदि श्वासोच्छ्वास पर्याप्तिको पूर्ण किये विना ही मर जाय तो सात प्राण समझना.

नीचे लिखे हुये श्लोकमें भी दस प्राणोंका वर्णन है.

पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं वलं च
उच्छ्वासनिःश्वासमथान्यदायुः ।

प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्ताः
तेषां वियोजीकरणं तु हिंसा ॥ १ ॥

पाँच इन्द्रियां, तीन बल—मनोबल, वचनबल और काय-बल—श्वासोच्छ्वास और आयु, ये दस प्राण, भगवान्‌ने कहे हैं; जीवको इन प्राणोंसे जुदा करना, हिंसा कहलाती है.

जीवके ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुणोंको "भावप्राण" कहते हैं.

"पुद्गलका लक्षण"

सद्दंधयार उज्जोअ,
पभा छाया तहेवय ।
वन्न गंध रसा फासा,
पुग्गलाणं तु लक्खणं ॥ ४ ॥

शब्द, अन्धकार, रत्नादिका उद्योत, चन्द्रादिकी प्रभा, छाया और सूर्यादिका आतप, ये पुद्गल हैं, अथवा जिसमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श हो, उसे पुद्गल समझना चाहिये ॥ ४ ॥

पूरण—गलन, जिसका स्वभाव हो, उसे पुद्गल कहते हैं—अर्थात् जो इकट्ठे हो कर मिल जाते हैं और फिर जुदे जुदे हो जाते हैं, वे पुद्गल कहलाते हैं.

"छह द्रव्योंका विशेष स्वरूप कहते हैं"

परिणामि जीव मुत्तं,

सपएसा एग खित्त किरिआय।

णिच्चं कारण कत्ता,

सव्वगय इयरअप्पवेसे ॥ ५ ॥

जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल—ये छह द्रव्य हैं. इनमेंसे जीव और पुद्गल, ये दो परिणामी हैं; जीव, चेतन द्रव्य है; पुद्गल मूर्त्त हैं; जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पाँच द्रव्य प्रदेश-सहित हैं; धर्म, अधर्म और आकाश—ये तीन, एक एक हैं; आकाश क्षेत्र है; जीव और पुद्गल सक्रिय हैं; धर्म, अधर्म, आकाश और काल नित्य हैं; धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल, कारण हैं; जीव कर्ता है; आकाश सर्वगत—अर्थात् लोक-अलोक-व्यापी है, और छहों द्रव्य प्रवेशरहित हैं—अर्थात् एक द्रव्य, दूसरे द्रव्यका स्वरूप नहीं धारण करता ॥ ५ ॥

विशेष—परिणाम दो प्रकारके होते हैं;—स्वभावपरिणाम और विभावपरिणाम. अन्यद्रव्यके निमित्तसे होनेवाला विरूप परिणाम, विभाव परिणाम कहलाता है: जैसे—जीव के निमित्तसे पुद्गल, कर्मके स्वरूपमें बदल जाते हैं, और पुद्गलके निमित्तसे जीवका ज्ञान, अज्ञानके रूपमें बदल जाता है.

विभावपरिणामकी अपेक्षासे जीव और पुद्गल परिणामी हैं, अन्य द्रव्य नहीं क्योंकि उनमें स्वभावपरिणाम ही होते हैं, विभावपरिणाम नहीं होते.

द्रव्यप्राण और भावप्राणोंको जीवद्रव्य ही धारण करता है. अतएव अन्य पाँच द्रव्य, निर्जीव हैं. इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण किये जानेकी योग्यता जिस द्रव्यमें हो, उसे मूर्त समझना चाहिये. अथवा, जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श हो उसे मूर्त कहते हैं. पुद्गलद्रव्यको छोड़, अन्य पाँच द्रव्य अमूर्त हैं.

काल द्रव्यको छोड़, अन्य पाँच द्रव्य, प्रदेशवाले हैं. जीव, धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायके—प्रत्येकके असंख्य प्रदेश हैं. सामान्यरूपसे आकाशके अनन्त प्रदेश हैं परन्तु लोकाकाशके असंख्य प्रदेश हैं. पुद्गलद्रव्य संख्यात प्रदेशोंवाला, असंख्यात प्रदेशोंवाला और अनन्त प्रदेशोंवाला होता है.

आकाश द्रव्य, अन्य द्रव्योंको अवकाश देता है, इसलिये वही एक क्षेत्र कहलाता है.

एक जगहसे दूसरी जगह जाना यह क्रिया है. जीव और पुद्गलको छोड अन्य द्रव्योंमें क्रिया नहीं है इसलिये जीव और पुद्गल सक्रिय, और अन्यद्रव्य निष्क्रिय कहलाते हैं.

धर्म, अधर्म, आकाश और काल—इन चार द्रव्योंमें विभाव-परिणाम नहीं होता इसलिये ये नित्य. और जीव तथा पुद्गलमें विभावपरिणाम होता है इसलिये ये दोनों

अनित्य हैं. नयवादको लेकर जीवको अनित्य कहा गया है, अन्यथा. जैनसिद्धान्त सब द्रव्योंको नित्यानित्य कहता है.

जीवके शरीर–इन्द्रिय आदिके बननेमें कारण, पुद्गल है; जीवके गमनमें कारण, धर्मास्तिकाय है; जीवके अवगाहनमें कारण, आकाशास्तिकाय है, जीवकी वर्तनामें कारण, काल है. इसलिये ये पाँचों द्रव्य, कारण हैं; और जीवद्रव्य अकारण है, क्योंकि जीवसे उन पाँचों द्रव्योंका कोई उपकार नहीं होता.

" पाँच समितियोंके और तीन गुप्तियोंके नाम."

इरिया भासेसणादाणे,
उच्चारे समिई सुअ ।
मणगुत्ति वयगुत्ति,
कायगुत्ति तहेव य ॥ ६ ॥

ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपसमिति और पारिष्ठापनिकासमिति, ये पाँच समितियाँ हैं. मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति, ये तीन गुप्तियाँ हैं ॥ ६ ॥

सम्यक् चेष्टाको समिति कहते हैं. मन, वचन और कायाके अशुभ व्यापारोंका रोकना, गुप्ति कहलाता है.

समिति और गुप्ति, "अष्ट–प्रवचन–माता" कहलाती हैं क्योंकि ये, आत्माके चारित्रगुणका पालनपोषण करती हैं.
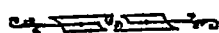
"आठ कर्मोंका—प्रत्येकका—स्वभाव, दृष्टान्तोंके द्वारा दिखलाते हैं."

पड पडिहार सि मज्ज,
हड चित्त कुलाल भंडगारीणं ।
जह एएसिं भावा,
कम्माण विजाण तह भावा ॥ ७ ॥

पट, प्रतिहारी, असि, मद्य, कारागृह, चित्रकार, कुलाल और भण्डारी इनके स्वभावके सदृश कर्मोंका स्वभाव है ॥७॥

(१) ऑख पर बान्धी हुई पट्टीके सदृश, "ज्ञानावरणीय" कर्मका स्वभाव है. वह आत्माके अनन्त ज्ञानको रोक देता है.

(२) द्वारपालके समान, "दर्शनावरणीय" कर्मका स्वभाव है. जिस प्रकार राज-दर्शन चाहनेवालेको द्वारपाल रोकता है, उसी तरह आत्माके दर्शन–गुणको दर्शनावरणीय कर्म रोक देता है.

(३) "वेदनीय" कर्मका स्वभाव, शहद लगी हुई तलवारकी धारके सदृश है. यह कर्म आत्माके 'अव्याबाध' गुणको रोक देता है. तलवारकी धारमें लगे हुये शहदको

चाटनेके समान, शात-वेदनीय कर्मका विपाक है. खड्ग-धारासे जीभके कटने पर, अनुभवमें आती हुई पीड़ाके समान, अशातवेदनीय कर्मका विपाक है. सांसारिक सुख, दुःखसे मिला हुआ है इसलिये निश्चयदृष्टिसे, सिवा आत्म-सुखके, पुद्गल-निमित्तक सुख, दुःख-रूपही समझा जाता है.

(४) मद्यके नशेके समान, "मोहनीय" कर्मका स्वभाव है यह आत्माके सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र गुणको ढँक देता है.

जैसे मद्यके नशेमें चूर, अपना हित-अहित नहीं समझ सकता, इसी प्रकार मोहनीय कर्मके उदयसे आत्माको धर्म-अधर्मका भान नहीं रहता.

(५) आयुकर्मका स्वभाव, कारागृहके समान है. यह कर्म, आत्माके "अविनाशित्व" धर्मको रोक देता है. जिस प्रकार जेलमें पड़ा हुआ मनुष्य, उससे निकलना चाहता है पर, सजा पूर्ण हुये विना नहीं निकल सकता, उसीतरह नरकादि योनिमें पड़ा हुआ जीव, आयु पूर्ण किये विना, उन योनियोंसे नहीं छूट सकता.

(६) "नाम" कर्मका स्वभाव, चित्रकार जैसा है. यह कर्म, आत्माके अरूपित्व धर्मको रोकता है. जैसे चितेरा, भले-बुरे अनेक प्रकारके चित्र बनाता है, उसी प्रकार नाम कर्म, आत्माको भले-बुरे नाना प्रकारके देव-मनुष्य नारक-तिर्यञ्च बना देता है.

(७) कुम्भार जैसा "गोत्र" कर्म है. यह कर्म आत्माके "अगुरुलघु" गुणको रोकता है.

कुम्भार घी रखनेके घड़े बनाता है और मद्य रखनेके भी, घीका घड़ा अच्छा समझा जाता है और मद्यका बुरा. इसी-तरह गोत्रकर्मके उदयसे जीव ऊँच-नीच कुलमें जन्म लेता है.

(८) अन्तराय कर्मका स्वभाव भण्डारी जैसा है. यह कर्म जीवके वीर्य-गुणको तथा दान आदि लब्धियोंको रोकता है. जैसे मालिक इच्छा होते हुये भी, दुष्ट भण्डारीके कारण दान आदि नहीं कर सकता, इसी प्रकार अन्तराय कर्मके उदयसे जीव दान आदि नहीं कर सकता, न अपनी शक्तिका विकास कर सकता है.
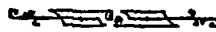
"आठ कर्मोंके नाम और उनकी उत्तर प्रकृतियाँ."

इह नाण दंसणावरण
वेय मोहाउनाम गोआणि।
विग्घं च पण नव दुअ
ट्ठवीस चउ तिसय दुपणविहं ॥ ८ ॥

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये आठ कर्म हैं. ज्ञानावरणीय की उत्तर प्रकृतियाँ पाँच हैं; दर्शनावरणीय की नव; वेदनी-

यकी दो; मोहनीयकी अट्ठाईस; आयुकी चार; नाम कर्मकी एकसौ तीन; गोत्रकी दो; और अन्तरायकी पाँच उत्तर प्रकृतियां है ॥ ८ ॥
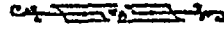
"आठ कर्मोंका उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध."

नाणेअदंसणावरणे,
वेअणीए चेव अंतराए अ।
तीसं कोडा कोडी,
अयराणं ठिइ अउक्कोसा ॥ ९ ॥

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय इन चार कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति-अर्थात् अधिकसे अधिक स्थिति, तीस क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपमकी है ॥ ९ ॥
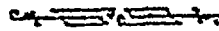
सत्तरि कोडा कोडी,
मोहणीए वीस नाम गोएसु।
तित्तीसं अयराइं,
आउ ट्ठिइबंध उक्कोसा ॥ १० ॥

मोहनीय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति सत्तर ७० क्रोड़ाक्रोडी सागरोपमकी है. नामकर्म और गोत्रकर्मकी उत्कृष्ट